सांस्कृतिक प्रश्न

*

रचयिता

श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

*

प्रकाशक

प्रसाद एण्ड संस, आगरा

HNH
814.8
M 599 S
M 599 S

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

सांस्कृतिक प्रश्न

[सांस्कृतिक विषयों के निबन्ध]

• •

रचयिता

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

• •

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

Library IIAS, Shimla
HNH 814.8 M 599 S
G4601
HNH
814.8
M 599 S

प्रथम संस्करण
नवम्बर, १९५४
मूल्य २॥)

G-4601
8-8-02

मुद्रक
जगदीशप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, बी० कॉम०
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

आरम्भ की बात

यह 'सांस्कृतिक प्रश्न', 'चिंतनकण' के बाद, मेरा दूसरा निबन्धसंग्रह है।

साहित्य, संगीत, चित्रकला तथा अन्य अनेक विषयों से सम्बद्ध कुछ सांस्कृतिक प्रश्नों पर मेरे कुछ विचार रहे हैं और हैं। उन विचारों को मैंने कुछ निबन्धों के रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न, समय-समय पर, किया है। वही निबन्ध पुस्तकाकार आज पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किए जा रहे हैं। विषय की दृष्टि से इस संग्रह में एकसूत्रता लाने का यत्न किया गया है।

मेरे 'चिंतनकण' को पाठकों ने अपनाया। उससे उत्साहित होकर मैंने अपना यह नया निबन्धसंग्रह प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यदि इस 'सांस्कृतिक प्रश्न' को भी पाठकों-का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, तो सम्भवतः भविष्य में 'सामाजिक प्रश्न', 'आर्थिक प्रश्न', 'राजनीतिक प्रश्न' आदि के रूप में कुछ अन्य विषयों पर भी मेरे कुछ निबन्धसंग्रह पाठकों के सम्मुख आ सकेंगे। पर, यह बहुत-कुछ भावी परिस्थितियों-पर निर्भर है।

'सांस्कृतिक प्रश्न' में मेरे अपने विचार हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक पाठक मेरे प्रत्येक विचार से सहमत ही हो। अपने अकिंचन अध्ययन, चिंतन और मनन के फल-स्वरूप मैं अपने जो कुछ विचार इन निबन्धों में व्यक्त कर सका हूँ, उनपर यदि पाठकों ने सहानुभूतिपूर्वक विचार किया, तो मेरा यह विनम्र श्रम सार्थक हो जायगा।

ग्वालियर,
१०–११–५४

—जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

भाई शिवशंकरजी गौड़ को

निबन्ध-सूची

क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ
१	संगीत का सौरभ उन्मुक्त हो	१
२	रेखाओं और रंगों की भाषा	६
३	शिक्षा का प्रश्न	१८
४	साहित्य और नारी	२६
५	सांस्कृतिक नवचेतना के वाहन तुलसीदास	३३
६	साहित्यकार की सामाजिकता	४१
७	कंठ और कर्ण की कविता	४६
८	साहित्यकार का मूल्यांकन	५८
९	सत्साहित्य का प्रमाणीकरण	६३
१०	राष्ट्रभाषा की समस्या	७२
११	राष्ट्रलिपि का प्रश्न	७८
१२	भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच	८७
१३	भारतीय खेलों का प्रश्न	९६
१४	मेलों के सांस्कृतिक विकास का प्रश्न	१०६
१५	राष्ट्रीय परिधान का प्रश्न	११४
१६	लोकसाहित्य और लोक-कलाओं का प्रश्न	१२०
१७	सिनेमा-उद्योग का राष्ट्रीयीकरण	१२७
१८	संगीत की शब्दावलि में परिवर्तन की आवश्यकता	१३६
१९	सहशिक्षा की समस्या	१४३
२०	कोश और व्याकरण का प्रश्न	१४८
२१	सामयिक पत्रों का प्रश्न	१५३

संगीत का सौरभ उन्मुक्त हो !

संगीतकला का चरम उत्कर्ष उस स्थिति में समझा जा सकता है, जिसमें पहुँचकर उसमें शब्दों का लोप हो जाता है और केवल स्वरों के अस्तित्व का अनुभव किया जाता है। काव्यकला का चरम उत्कर्ष वहाँ समझा जा सकता है, जहाँ स्वरों का लोप होकर शब्दों ही के रस की अनुभूति शेष रहती है। इसके विपरीत स्थिति होने पर यह समझा जा सकता है कि उक्त दोनों कलाओं में विकृति अथवा ह्रास के कीटाणुओं का प्रवेश होने लगा है।

असंयत यौनभावना या अन्य किसी अस्वस्थ भावना के मद में डुबानेवाले शब्द जब किसी गीत में प्रधान बन जाते हैं और स्वरों की साधना और मधुरता गौण हो जाती है, तब उस गीत में और चाहे जो चीज़ रहे, संगीत नहीं रहता। इसी प्रकार, जिस कविता में केवल सुकंठ कवि का स्वरमाधुर्य ही तरंगित होता है और उसके शब्दों में कोई भावतादात्म्य, रस या प्राण नहीं रहता, वह कविता और चाहे जो चीज़ हो, कविता नहीं होती।

संगीत में मधुर स्वरों का तथा कविता में सजीव, सरस एवं भावपूर्ण शब्दों का स्थान जब प्रमुख होता है, तभी उनकी

कलात्मकता वास्तविक समझी जा सकती है; किन्तु, कला की वास्तविकता भी तब तक निरर्थक है, जब तक उसका व्यापक प्रसार, रसास्वादन और उपयोग न हो। कला केवल ऐतिहासिक महत्त्व की मृत वस्तुओं के स्मारक-संग्रहालयों में सजाकर रखी जानेवाली चीज़ नहीं है। उसका महत्त्व उसके शाश्वत, प्रवहमान तथा जनसम्पर्कयुक्त जीवन और व्यापक उपयोग में है। कला को वैभव या विलासिता के उच्च दुर्ग के संकीर्ण प्रासादकक्ष में क़ैद करके नहीं रखा जा सकता। जो चीज़ इस प्रकार क़ैद करके रखी जा सकती है, वह कला नहीं, कला का कंकाल है।

कला का प्राण आविष्कार है, अनुकरण-मात्र नहीं। और यह आविष्कार संगीतकला के क्षेत्र में सबसे कठिन है। साहित्य तथा चित्रकला के क्षेत्र में तो अनुकरण से एक क्षण भी काम नहीं चलता। इन दोनों कलाओं के क्षेत्रों में तो मौलिकताहीन व्यक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं माना जाता। भाव या शैली के सम्बन्ध में, जो कलाकार, साहित्य या चित्रकला के क्षेत्र में, अपने किसी पूर्ववर्ती कलाकार का अनुकरण करता है, वह प्रायः तत्काल तिरस्कृत कर दिया जाता है। अतः, उक्त दोनों कलाओं के क्षेत्रों में तो मौलिक आविष्कारों की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक है; किन्तु, संगीत-के क्षेत्र में सफल अनुकरण करनेवाले कलाकार भी काफ़ी अभिनन्दित होते हैं। संगीतकला के क्षेत्र में मौलिक आविष्कार प्रारम्भिक युग ही में अधिक मात्रा में किए गए थे, प्रत्येक युग में नहीं। थोड़े ही संगीतज्ञ ऐसे होते हैं, जो नए स्वरों, अभिनव रागों और नई रागिनियों के आविष्कार कर सकें। नए वाद्ययंत्रों का आविष्कार करनेवाले भी बहुत कम

होते हैं। वीणा, स्वरतार (सितार), स्वररंगिणी (सारंगी), स्वरोदय (सरोद) जैसे वाद्यों के आविष्कार बार-बार नहीं होते। आज के अधिकतर गायकों और वादकों के जीवन की प्रमुख पूँजी उनकी अनुकरणपटुता ही होती है। अधिकतर यही होता है कि जो गायक, वादक या नर्तक पुराने गायकों, वादकों या नर्तकों की चलाई हुई परिपाटी के अनुकरण का जितनी सफलता से निर्वाह करता चला जाता है, वह संगीत के क्षेत्र में उतना ही कुशल कलाकार माना जाता है। इसके विपरीत, चित्रकला और साहित्यकला के क्षेत्र में पुरानी परिपाटियों का कट्टरपन से निर्वाह करनेवाले कलाकार अनद्यतन, प्रगतिशून्य तथा तिरस्करणीय समझे जाते हैं।

उक्त वस्तुस्थिति तथा प्रवृत्ति जहाँ साहित्य और चित्रकला-के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति के मार्ग खोल रही है, वहाँ संगीत-कला के क्षेत्र में, प्रगति तथा नित्य-नवीन आविष्कारों की दृष्टि से, उसने एक अवरोध-सा उत्पन्न कर रखा है।

साहित्य तथा चित्रकला के क्षेत्र में जनरुचि ने भी नवन-वोन्मेषशालिनी प्रतिभा के मौलिक आविष्कारों को प्रोत्साहन दिया है। मौलिकताहीन तथा एक ही-से साहित्य और चित्रांकन को जनता निरन्तर पसन्द नहीं करती, किन्तु, आदिकाल से लेकर अब तक प्रायः एक-ही-से ढंग से गाए जानेवाले राग, बजाई जानेवाली 'गति' या प्रदर्शित की जानेवाली नृत्यमुद्रा को वह पसन्द कर लेती है, बशर्ते कि गानेवाले के कंठ, बजानेवाले की उँगलियों और नर्तक के पदक्षेप में मधुरता, रस, कौशल, भव्यता और अनुकरण-पटुता किसी हद तक मौजूद हो। किम्बहुना, रूढ़िवादी

आचार्यत्व के प्रदर्शन के नाम पर जनता कर्कश कंठ की नीरस कसरत को भी सहन कर लेती है।

इस स्थिति ने वास्तविक प्रतिभाशाली संगीत-कलाकारों-के सामने एक विषम समस्या खड़ी कर दी है। उन्हें नित्य-नवीन तथा मौलिक आविष्कारों के लिए कहीं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। बाहरी प्रोत्साहन के अभाव की पूर्ति भी उन्हें अपनी अन्तःप्रेरणा ही से करनी पड़ेगी। अतः, उनकी अन्तःप्रेरणा पर दोहरा भार पड़ेगा। उनकी कला की सार्थकता इसीमें है कि वे, इस दोहरे भार को सहन करते हुए भी, मौलिक आविष्कारों के कठिन पथ पर क़दम बढ़ाएँ; केवल अनुकरण, अंध अनुकरण की मोहिनी माया के पाश की जड़ता से अपनी कला को बचाकर उसमें नित्य-नवीन जीवन-संचार करने वाली मौलिकता की सरस प्रतिष्ठा करें।

किन्तु, केवल मौलिकता ही से काम न चलेगा। संगीत-कला को लोकव्यापक भी बनाना पड़ेगा और उसका लक्ष्य-निर्धारण भी करना पड़ेगा।

आज के युग में भूतकाल के महान् संगीत-कलाकारों के जो कुछ सफल शिष्य मौजूद हैं, उनके गान तथा वादन के कुछ श्रेष्ठ नमूनों को रिकार्डों में भरकर तथा उनकी विशिष्ट नृत्यमुद्राओं की फ़िल्में बनाकर उन्हें सुरक्षित कर लेने और उन्हीं रिकार्डों को रेडियो तथा ग्रामोफ़ोन के द्वारा तथा फ़िल्मों को प्रदर्शन द्वारा जनता में प्रचारित करते रहने मात्र-को संगीतकला के विकास की सार्थकता मान बैठना एक मार्ग हो सकता है। दस-पाँच जीवित महान् संगीत-कलाकारों को

संगीतकला का प्रतीक मानकर उन्हींका सम्मान करना और उन्हींको स्थान-स्थान पर ले जाकर जनता को उनकी कला के प्रत्यक्ष रसास्वादन का अवसर, उन गुणियों के जीवन-काल तक, देते रहना दूसरा मार्ग हो सकता है। प्राचीन संगीत का जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उसे नवीनतम तथा मौलिक आविष्कारों से युक्त करके, नवीन प्रतिभा को प्रोत्साहित करके, जन-जन के घर-घर में संगीत का प्रवेश कराना तीसरा मार्ग हो सकता है। इन तीनों मार्गों में से किसी एक मार्ग को संगीत-कलाकारों को चुनना पड़ेगा।

गंभीरता से सोचने पर तीसरा मार्ग ही संगीत-कला के विकास, संरक्षण, व्यापक प्रचार और अमरता के लिए उचित मार्ग प्रतीत होता है। तीसरे मार्ग के साथ पहले और दूसरे मार्गों के कुछ उपयोगी उपकरणों का सामंजस्य भी किया जा सकता है।

संगीत-कला की अमरता का प्रश्न भी अन्य कलाओं की अमरता के प्रश्न से अधिक जटिल है। अजन्ता और बाघ की गुफाओं की दीवारों पर जिन चित्रकारों के चित्र बने हुए हैं, उनके नाम आज भले ही अधिकांश व्यक्ति न जानते हों, पर, वे उनकी चित्रकला को वहाँ जाकर अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनकी चित्रकला अमर है। भूतकाल के जिन महान् साहित्यकारों ने अपने ग्रंथों को भोज-पत्रों आदि पर लिखकर रख दिया था, उनका साहित्य भी आज सुरक्षित है। मुद्रणकला के आविष्कार-ने उनके साहित्य की अमरता को और भी सहायता पहुँचाई है। किन्तु, प्राचीन काल के अधिकांश संगीत-कलाकारों के

न तो हम आज नाम ही जानते हैं और न उनकी संगीतकला-का रसास्वादन ही कर सकते हैं। कुछ प्राचीन संगीतज्ञों-के नाम हम भले ही जानते हों, किन्तु, उनके भी गान, वादन या नृत्य का रसास्वादन हम आज नहीं कर सकते।

प्राचीन संगीतज्ञ तो हमारे हाथ से चले ही गए, यदि वर्तमान स्थिति में उचित परिवर्तन न हुआ, तो आधुनिक महान् संगीतज्ञ भी, अपने जीवन के बाद, मुश्किल से हमें अपनी कला का आनन्द दे सकेंगे।

आधुनिक विज्ञान की सहायता से रिकार्डिंग आदि के द्वारा उनके संगीत की रक्षा किसी हद तक अवश्य की जा सकती है, किन्तु, उस हद तक नहीं, जिस हद तक ब्लॉक-मेकिंग के द्वारा चित्रकारों के चित्रों की तथा मुद्रणकला के द्वारा साहित्यकारों के ग्रंथों की।

संगीत-कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व कम नहीं है। किन्तु, उसकी कला का महत्त्व उसके व्यक्तित्व से भी अधिक है। व्यक्तित्व का तो जरा-मरण के आघातों से नष्ट होना स्वाभाविक ही है, किन्तु, उसकी कला को शाश्वत बनाने-का बुद्धिसंगत प्रयत्न तो किया ही जाना चाहिए।

संगीतकला की अमरता का प्रश्न उसके व्यापक प्रसार-के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। प्राचीन काल में लेखन और मुद्रण-का प्रचार न होते हुए भी वेदपाठी विद्वानों ने केवल स्मरण-शक्ति तथा कंठ की परम्परा से भारतीय इतिहास तथा संस्कृति-के बहुमूल्य रत्नकोष वेदों की रक्षा की और इस निपुणता-से रक्षा की कि एक अक्षर तो दूर रहा, एक स्वरपात का भी अन्तर न पड़ने दिया। केवल अनुकरण के इस कट्टरपन से

तो संगीत की रचना नहीं की जा सकती, क्योंकि संगीत एक कला है, इतिहास नहीं। किन्तु, ऐसे अध्यवसाय के साथ उचित उदारता, सरसता और मौलिकता को जोड़कर संगीतकला को अमर बनाया जा सकता है। वास्तव में वही कला शाश्वत हो सकती है, जो जनता के हृदय में स्थान पा सके।

साहित्य-निर्माण या चित्रांकन की प्रेरणा के बीजाणु जनता के हृदय में उतनी अधिक मात्रा में नहीं पाए जाते, जितनी अधिक मात्रा में संगीत के बीजाणु पाए जाते हैं। इस दृष्टि से संगीत निस्संदेह अन्य कलाओं की अपेक्षा कुछ अधिक व्यापक कला है। यदि संगीतकला को भी चित्रकला तथा साहित्यकला की भाँति ही स्थायित्व भी प्राप्त हो सके, तो वह सर्वश्रेष्ठ कला का पद प्राप्त कर सकती है। संगीतकला के स्थायित्व का उपाय उसके व्यापक प्रसार में निहित है और उसका व्यापक प्रसार तब तक उचित रूप में नहीं हो सकता, जब तक संगीतकलाकार पूर्णतया उदार दृष्टिकोण नहीं अपनाते।

लोकतंत्र के इस युग में महान् गायकों, वादकों, नृत्यकारों आदि को जनता की ओर से उचित साधन दिए जाने चाहिए, जिससे वे, व्यक्तिगत आर्थिक लाभ की संकीर्ण भावना छोड़कर, लोकगीतों, लोकवाद्यों तथा लोकनृत्यों की व्यापक पृष्ठभूमि को अपना दृढ़ आधार बनाकर, नए-नए आविष्कारों तथा पुरानी परिपाटियों के सफल अनुकरण के दोनों पहलुओं में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करते हुए, संगीतकला के ज्ञान को उदारतापूर्वक अधिक से अधिक व्यक्तियों में वितरित कर सकें। "मेरी संगीतकला यदि दूसरे सीख लेंगे, तो

मुझे धन न मिलेगा !"—यह स्वार्थभावना संगीतकला के लिए मारक तथा संगीत-कलाकार के लिए आत्मघातक है। जनता को ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिए, जिसमें संगीत-कलाकार संकीर्ण तथा अनुदार भावनाओं से पूर्णतया मुक्त होकर संगीकला के सौरभ को इतना अधिक उन्मुक्त कर सकें कि उससे प्रत्येक व्यक्ति का हृदय प्रफुल्लित और घर सुवासित हो सके। संगीतकला की स्वाभाविक प्रेरणा मानवमात्र में मौजूद है। दुर्भाग्य यही है कि उसे विकसित कर सकने-वालों में बहुत से आज अपनी संकीर्णता के बन्दी बने हुए हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे शीघ्र ही मुक्त हों और उनकी साधना के द्वारा संचित संगीत का सौरभ भी उन्मुक्त हो !

रेखाओं और रंगों की भाषा

चित्रकला की भाषा रेखाओं और रंगों की भाषा है। वह विश्वजनीन भाषा है। इसलिए, चित्रकला का प्रसार विश्वव्यापक है।

संगीतकला मानव की कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, चित्रकला नयनेन्द्रिय द्वारा और साहित्यकला कर्णेन्द्रिय और नयनेन्द्रिय दोनों के द्वारा। किन्तु, साहित्यकला की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि उसके वाहन शब्दार्थ होते हैं और संसार के शब्दार्थ अनेक भाषाओं में बँटे हुए हैं। अनुवाद के द्वारा मूल के सौन्दर्य और रस की पूर्णतया रक्षा नहीं की जा सकती। फलतः, साहित्य का रसास्वादन भाषाभेद की सीमाओं के बन्धन में जकड़ा हुआ है। साहित्य का आनन्द मानवमात्र के लिए समान रूप से तभी उपलब्ध हो सकता है, जब किसी एक विश्वभाषा का अभ्युदय और विकास हो और संसार के समस्त श्रेष्ठ साहित्यकार उसी विश्वभाषा-को आत्माभिव्यक्ति का वाहन बनाना स्वीकार कर लें। यह असम्भव भले ही न हो, पर, इसमें अभी बहुत विलम्ब है।

संगीत के रसास्वादन के मार्ग में भी अनेक बाधाएँ हैं। ग्रामोफ़ोन या रेडियो संगीत-प्रसारण के पूर्ण साधन नहीं हो सकते। संगीत का पूर्ण आनन्द तो तभी लिया जा सकता

है, जब संगीतकलाकार और श्रोता दोनों प्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे के सामने हों। संगीत-कलाकारों को इस प्रत्यक्षीकरण-के विनियोग के लिए हर समय हर स्थान पर नहीं पहुँचाया जा सकता। उन्हें प्रत्येक समय रेडियो-प्रसारण-केन्द्र पर भी नहीं लाया जा सकता और रिकार्डों द्वारा उनके संगीत-का आनन्द लेने में वास्तव की प्रतीति में काफ़ी अन्तर आ जाता है।

श्रोता और संगीतज्ञ के बीच में एक व्यवधान और भी होता है। प्रत्येक प्रदेश के संगीत की अपनी परिपाटी, रूढ़ि और प्रणाली होती है। वह उस प्रदेश के निवासियों की मज्जागत प्रवृत्ति का अंग बन जाती है। उसके भेद के कारण प्रत्येक देश के निवासियों की संगीतविषयक पृथक् रुचि बन जाती है। पाश्चात्य देशों के निवासियों के कान इसीलिए पौर्वात्य संगीत में यथेष्ट रस नहीं ले पाते तथा पौर्वात्य लोगों के कान भी पाश्चात्य संगीत के सम्बन्ध में इसी प्रकार कुछ अरुचि का परिचय दिया करते हैं।

चित्रकला का रसास्वादन इस प्रकार के शब्दार्थभाषा-भेद, स्वरभेद या ध्वनिभेद का बन्दी नहीं है। अन्धों को छोड़कर संसार के प्रत्येक भाग के निवासी किसी भी देश के चित्रकार के द्वारा बनाए गए चित्र का रसास्वादन कर सकते हैं, उसकी कला का आनन्द ले सकते हैं, उसकी रेखाओं और रंगों की विश्वजनीन भाषा समझ सकते हैं और उसकी आत्मा से अपनी आत्मा के तादात्म्य का, बिना किसी बाधा या व्यवधान के, अनुभव कर सकते हैं। और इसके लिए चित्रकार के चित्रदर्शक के सामने स्वयं उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती

यह विश्वव्यापकता चित्रकला की ऐसी विशेषता है, जो उसे कलाओं के क्षेत्र में बहुत उच्च स्थान दे देती है।

चित्रकला के आनन्द की उपलब्धि के लिए केवल मर्मज्ञ और संवेदनशील हृदय तथा सक्षम नेत्रों की आवश्यकता होती है, और किसी माध्यम की नहीं। साहित्यकला की भाँति चित्रकला विश्वव्यापक बनने के लिए अनुवादकों की मुहताज नहीं होती। परिपाटी, प्रणाली या रूढ़ि की संकीर्णता का भी चित्रकला के जगत् में, संगीत की भाँति, बोलबाला नहीं है। चित्रकला के क्षेत्र में देश, काल, शैली आदि की सीमा का व्यवधान नगण्य है। अपने हृदय और आत्मा में जिस प्रकार विश्वमानव एक है, उसी प्रकार चित्रकला के क्षेत्र में भी सर्जन और रसास्वादन के उपादानों में अधिक से अधिक समानता है।

चित्रकला की अपनी कुछ अपूर्णताएँ भी हैं।

जहाँ तक स्थायित्व एवं संरक्षण का प्रश्न है, साहित्य-कला को संगीत और चित्रकला की अपेक्षा इस युग में अधिक सुविधा प्राप्त है। अपने भाषासम्बन्धी सीमित क्षेत्र के बाव-जूद, साहित्यकला आधुनिक मुद्रण-विज्ञान की सहायता से अपने यथातथ्य तथा पूर्ण रूप में चिरकाल तक सुरक्षित रखी जा सकती है। रिकार्डिङ्ग के सहारे संगीतकला को रक्षित तो रखा जा सकता है, पर, अपने पूर्ण और यथातथ्य स्वरूप में नहीं। चित्रकला भी, फ़ोटोग्राफ़ी तथा ब्लॉक-मुद्रण की प्रक्रिया के द्वारा, अपने वास्तविक सौन्दर्य को पूर्णतया तथा ज्यों का त्यों सुरक्षित नहीं रख पाती। चित्रकला के दीर्घकाल तक तथा ज्यों-के-त्यों रूप में सुरक्षित रखे जाने का प्रमुख साधन भित्ति-चित्रण है।

समय की सीमाओं का उल्लंघन करके अपने भव्य रूप-में उन्हीं जीवित राष्ट्रों की चित्रकला सुरक्षित रह सकी है, जो प्रथम श्रेणी की भित्ति-चित्रण-कला को विकसित करके उसके जाग्रत प्रहरी भी बने रह सके हैं।

अजन्ता, बाघ आदि की गुहाओं के भित्ति-चित्रों की कला-सम्पत्ति पर इस दृष्टि से हमारा भारत राष्ट्र अभिमान कर सकता है।

चित्रकला की रेखाओं और रंगों की भाषा को सुरक्षित रखने का उपर्युक्त साधन अपने पुष्ट, भव्य तथा चिरस्थायी स्वरूप में आजकल यथेष्ट प्रचलित नहीं है। इसका कारण सम्भवतः उसकी दुर्लभता, कठिनता या महँगापन है।

यों अपने लोककलात्मक तथा अस्थायी स्वरूप में भित्ति-चित्रण आज भी गाँव-गाँव और घर-घर में प्रचलित है, पर, उसमें चित्रकला के ऐतिहासिक संरक्षण की वह शक्ति तथा भव्यता नहीं है, जो उपर्युक्त गुहाओं के पुरातन चित्रणों में है। वह तो प्रायः बनने के बाद ही मिटने को तैयार रहता है। वह भी किसी हद तक भव्य और स्थायी हो सकता है, यदि उसकी शिक्षा की उचित व्यवस्था हो तथा एक के बाद दूसरी पीढ़ी उसकी सौन्दर्य-परम्परा की रक्षा करती चली जाय।

मूर्तिकला, स्थापत्य आदि तो अलग वर्णन के विषय हैं।

चित्रकला के रूप में आज काग़ज़ आदि पर रेखाओं और रंगों के द्वारा अवतरित की जाने वाली चित्रकार की मानस-सृष्टियों ही का अधिक प्रचलन है। चित्रकला से प्रायः उसी-का अर्थ समझा जाता है।

प्रत्येक कला के साथ उसके स्रष्टा का जीवन निविड रूप-से सम्बद्ध रहता है। कला को जीवित और स्वस्थ बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज कलाकार को जीवित और स्वस्थ बनाए रखे। न केवल जीवित और स्वस्थ रहने के लिए, बल्कि, प्रोत्साहित और उल्लसित होने के लिए भी, कलाकार को यश और धन के रूप में उचित पुरस्कार-प्रतिष्ठा की स्वाभाविक अपेक्षा होती है।

जब तक समाज के वर्तमान आर्थिक ढाँचे में पूर्ण परिवर्तन नहीं हो जाता, तब तक जीवन में कला का व्यावहारिक स्थान बहुत कुछ उसके आर्थिक मूल्यांकन के अनुसार ही निर्धारित होता रहेगा।

चित्रकार अपने चित्र-सर्जन के बदले आत्मसन्तोष तथा यश के अतिरिक्त स्वभावतः उचित आर्थिक पुरस्कार भी चाहता है। उसमें अनुचित कुछ भी नहीं है।

चित्रकला के मर्मज्ञ व्यक्ति मूल चित्र को अपने संग्रह में रखना पसन्द करते हैं, उसके ब्लॉक के मुद्रण-मात्र को नहीं। अतः, चित्रकार की समूची आर्थिक आशाएँ प्रायः मूल चित्र ही पर केन्द्रित हो जाती हैं। चित्रों के ब्लॉक-मुद्रणों के अलबमों के विक्रय का प्रसार अभी पर्याप्त रूप में नहीं हो पाया है।

चित्रकार प्रायः अपने चित्र को बड़ी-बड़ी चित्रप्रदर्शनियों-में भेजकर अपनी यशःकांक्षा तृप्त करना पसन्द करता है और उसके साथ ही उसके विक्रय से उचित धन प्राप्त करना भी चाहता है।

अधिक प्रसिद्ध चित्रकार, आर्थिक दृष्टि से यथेष्ट सम्पन्न होने पर, अपने चित्र बेचने के बदले प्रायः अपने पास ही

रखना पसन्द करते हैं और समय-समय पर उनकी प्रदर्शनी करके दर्शक-शुल्क से धन प्राप्त करते रहते हैं।

चित्रकला-मर्मज्ञों में श्रेष्ठ कोटि के चित्रों को मूल रूप में ख़रीद कर अपने व्यक्तिगत संग्रह में रखने की जो प्रवृत्ति है, उसके कारण सुप्रसिद्ध चित्रकारों के प्रथम श्रेणी के चित्रों के मूल रूप तो रत्नों की तरह बहुमूल्य बन गए हैं और साधारण कोटि के चित्रकार, यदि वे केवल चित्रकला ही की साधना में लगे रहें तो, भूखों मरने को विवश होते हैं। इस विषमता-को मिटाने का उत्तरदायित्व आज हमारे समाज पर है।

भारतीय चित्रकला ने संसार में अपने लिए जो गौरव-पूर्ण स्थान बना लिया है, वह ऐतिहासिक तो है ही, आज भी इस देश में भारतीय चित्रकला के कृती कलाकारों का अभाव नहीं है। यदि अभाव है, तो सुयोजित रूप में उनके प्रोत्साहन-के प्रयत्नों का।

चित्रकला की भाषा जिस सीमा तक विश्वव्यापक है, उस सीमा तक चित्रों के मूल रूपों को ख़रीदकर अपने संग्रह-में रखने की जनसाधारण की आर्थिक क्षमता नहीं है। चित्रकला के विकास के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिए यदि चित्रों के आर्थिक मूल्य-का स्तर गिरा दिया जाय, तो समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में चित्रकार के जीवन का आर्थिक स्तर बुरी तरह गिर जा सकता है। यह भी अभीष्ट नहीं समझा जा सकता।

चित्रसंग्रह के अधिकार को मुट्ठी भर सम्पन्न व्यक्तियों ही तक सीमित रहने देना भी चित्रकला के विश्वव्यापक रसा-स्वादन की दृष्टि से अनुचित है।

ऐसी स्थिति में इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता कि चित्र संग्रह तथा चित्रकार के जीवन निर्वाह का भार समाज प्रत्यक्ष रूप में अपने ऊपर ले। युग की प्रवृत्तियों-को देखते हुए यह असम्भव भी नहीं है।

जनभावना के प्रसार के वर्तमान युग का तकाज़ा है कि कला अपना विस्तार और उभार जनसाधारण पर आधारित करे।

हमारे जनजीवन में चित्रकला की सर्जन-प्रतिभा तथा उपकरण, दोनों, के बीज, किसी हद तक, मौजूद हैं।

भारतीय चित्रकला के यशस्वी आचार्य श्री नन्दलाल वसु-ने युगनेता महात्मा गाँधी के प्रोत्साहन पर गाँवों में आसानी-से मिलने वाले प्राकृतिक पदार्थों के साधारण रंगों तथा अन्य उपकरणों से चित्रकला के सर्जन का जो प्रयास किया था, उसने कला-पारखियों को चमत्कृत कर दिया था। इससे हमारे लोकजीवन में निहित चित्रकला के उपकरणों के स्रोत के अस्तित्व का पता चलता है। चित्रकला की सर्जन-प्रतिभा का प्राकृतिक स्रोत भी जनसाधारण में मौजूद है। गाँव के बालक भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से, अपने शिशुजीवन के प्रथम चरण ही में, गेरू, खड़िया, कोयले आदि से ज़मीन पर रेखाएँ बनाने लगते हैं। यदि उनकी इस प्रवृत्ति को व्यवस्थित करके प्रोत्साहित किया जाय, तो उसमें से चित्रकलासर्जन की प्रतिभा के अनेक उत्स आविर्भूत हो सकते हैं।

पुरातन व्यष्टि युग की प्रवृत्तियाँ वर्तमान समष्टि-युग की प्रवृत्तियों में परिवर्तित होने का जो उपक्रम आजकल कर रही हैं, उसके अनुरूप दिशा ही हमें अपनी चित्रकला के विकास को देनी पड़ेगी। अन्यथा, वह पिछड़ जायगी।

आज की आवश्यकता है कि हम भारतीय राष्ट्रीय कला-भवन की स्थापना करें। किन्तु, उसका आधार नवीन हो। वह केन्द्रित न होकर विकेन्द्रित हो, जिससे किसी भी भारतीय की कला-सर्जनप्रतिभा को, साधनों के अभाव में, कुंठित न होना पड़े।

प्रथम क़दम के रूप में देश के कम से कम प्रत्येक ज़िले में एक-एक कलाभवन यथाशीघ्र स्थापित किया जाना चाहिए। ये जनपदीय कलाभवन ही भारत के राष्ट्रीय कला-भवन के मूलाधार होने चाहिए। विकेन्द्रीकरण के गांधीजी के सिद्धान्त के अनुसार इन जनपदीय कलाभवनों के द्वारा केन्द्रीय राष्ट्रीय कलाभवन का संचालन होना चाहिए, न कि केन्द्रीय कलाभवन द्वारा इन जनपदीय कलाभवनों का संचालन।

जब तक समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन नहीं हो जाता, तब तक चित्रों के ख़रीदे जाने की व्यवस्था तो जारी रखनी ही पड़ेगी, किन्तु, उस व्यवस्था को मुट्ठी भर अमीर आदमियों के हाथों में रखने के बदले जनसाधारण में वितरित करके विकेन्द्रित कर देना होगा।

प्रत्येक जनपद की जनता को अपने जनपद के कलाभवन का निर्माण करना चाहिए, उसके संचालन का भार उठाना चाहिए और उसे आदर्श कलाकेन्द्र बनाने का यत्न करना चाहिए। शासन का कर्त्तव्य तो यह है कि वह इस कार्य में अधिक से अधिक सहायता करे, किन्तु, यदि शासन अपना कर्त्तव्य-पालन न करे, तो जनता को शासन ही के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिए। जनता में स्वावलम्बन का स्वाभिमान भी हो ६ चाहिए।

प्रत्येक जनपद के निवासी चित्रकार के चित्र उस जनपद के कलाभवन द्वारा ख़रीदे जाकर जनसाधारण में प्रदर्शनार्थ उक्त कलाभवन में रखे जाने चाहिए। इससे चित्रकार की धन तथा यश की आवश्यकता भी पूरी होगी तथा चित्रों को देखने, समझने और उनका आनन्द लेने की जनता की स्वाभाविक सांस्कृतिक प्रवृत्ति भी प्रोत्साहित और सन्तुष्ट होगी। तभी हमारी चित्रकला अपने लिए वास्तविक, व्यापक और चिरस्थायी जीवनाधार पा सकेगी।

शिक्षा का प्रश्न

शिक्षा का अर्थ सीखना और सिखाना है। सिखाने का अर्थ किसी विजातीय तत्त्व को मानव-मस्तिष्क में ज़बर्दस्ती प्रविष्ट कराना नहीं, बल्कि, उसमें पहले से बीजरूप में मौजूद स्वाभाविक प्रवृत्तियों को स्वस्थ दिशा की ओर प्रेरित, विकसित और प्रोत्साहित करना मात्र है। शिक्षा, ज्ञान या विद्या-की साधना की, प्रकृत प्रक्रिया है। वह जीवन की कला की सम्यक् उपलब्धि और अभ्यास का माध्यम है।

'विद्ययाऽमृतमश्नुते' कहकर जिस ज्ञान को अमरता की प्राप्ति का साधन बताया गया है, वह ज्ञान जीवन के अच्छी तरह चरितार्थ किए जाने का साधन है और शिक्षा उसी ज्ञान का प्रवेशद्वार अमरता का अर्थ चिरायु होना नहीं है, बल्कि पहले तो जीवन के उचित साधन पाकर भौतिक शरीर के द्वारा दीर्घायु होना और बाद में यशःशरीर के द्वारा अमर होना है।

विद्या का दोहरा उपयोग है। वह एक ओर तो जीविका-के ऐसे साधन प्राप्त करा सकती है, जिनसे उचित आहार, जलवायु आदि की प्राप्ति होकर दीर्घायु लाभ हो और दूसरी ओर वह ऐसी क्षमता भी प्रदान करती है, जिससे मरण के बाद भी जीवन के चिह्न बनाए रखनेवाली कीर्ति प्राप्त हो।

यह कीर्ति दो प्रकार से प्राप्त होती है। एक तो मानवता के हित और कल्याण के लिए त्याग तथा कर्म करने से और दूसरे मानव-जाति की सुख-सुविधा की वृद्धि तथा चिर-आनन्द-प्राप्ति के साधन स्वरूप ज्ञान, विज्ञान के आविष्कार तथा साहित्य, कला आदि के सर्जन के अच्छे नमूने छोड़ जाने-से। सर्जन और कर्म दोनों की सत्प्रेरणा जिस ज्ञान से मिले, वही अच्छा ज्ञान है और जिस शिक्षा से ऐसा ज्ञान मिले, वही अच्छी शिक्षा है।

आधुनिक भारत के सर्वोच्च कोटि के महापुरुषों से लेकर सामान्य व्यक्ति तक आज इस विषय में बिल्कुल एकमत हैं कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली इस देश की वर्तमान परिस्थिति में इसके लिए बिलकुल अनुपयुक्त है। किन्तु, अन्य उपयुक्त पद्धति का प्रचलन करने में विलम्ब हो रहा है।

'सा विद्या या विमुक्तये' उस विद्या का जयघोष है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है। भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली यहाँ की जनता को जो विद्या देती है, वह मुक्ति का मार्ग न होकर बन्धन का मार्ग है। उसका इस देश में उपक्रम उस विदेशी शासन ने किया था, जो इस देश की स्वतन्त्रता का विरोधी था। उसके द्वारा प्रचारित शिक्षा-प्रणाली से ग़ुलामी ही की प्रेरणा मिल सकती थी, आज़ादी की नहीं। आधुनिक शिक्षा ने विदेशी शासन के हृदयहीन यंत्र के लिए बड़े पैमाने-पर सस्ते स्वदेशी पुर्ज़े ढालने का कार्य किया। उन पुर्ज़ों ने उस शोषक शासन-यंत्र को इस देश में चलाया और मज़बूत बनाया। इस प्रकार उस शिक्षा ने भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार की मुक्ति की भावना के मूल पर कुठाराघात किया। आज भी उसी शिक्षा-प्रणाली का अंधानुसरण किसी भी

प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। आज स्वतंत्र भारत-की कोटि-कोटि जनता के मन में उस वास्तविक विद्या की भूख जाग रही है, जो शारीरिक और मानसिक ग़ुलामी के बन्धनों को सदा के लिए तोड़कर आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता दिला सके और उसे क़ायम रख सके। इस देश की आज की शिक्षासम्बन्धी आवश्यकता यह है कि शिक्षा की उचित प्रणाली द्वारा ऐसा ज्ञान मिले, जो आर्थिक और मानसिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता दिलाकर सब प्रकार के दैन्य को दूर कर सके।

आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित प्रकार से जीवननिर्वाह करने के लिए जीविका का उचित कार्य मिले। और मानसिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि उसे कला, ज्ञान, विज्ञान आदि की प्रत्येक शाखा में अधिक-से अधिक उपलब्धि और प्रगति करने का न्यायोचित तथा समान अवसर मिल सके।

उचित प्रकार की नई शिक्षा-प्रणाली का व्यापक रूप में प्रचलन तभी हो सकता है, जब जनता और शासन में, इस विषय में, पूर्ण सहयोग हो सके। जनता के निष्क्रिय और हतोत्साह बने रहने पर कोई भी शासन कोटि-कोटि मनुष्यों के लिए नई शिक्षा-प्रणाली का पूर्ण रूप से प्रचलन नहीं कर सकता और शासन द्वारा उचित सहयोग, नेतृत्व तथा प्रोत्साहन न मिलने पर जनता भी आसानी से उचित शिक्षा-योजना की व्यवस्था नहीं कर सकती।

गंभीर और मौलिक चिन्तन-शक्ति तथा उचित योजना को साहसपूर्ण तथा क्रान्तिकारी गति से कार्यान्वित करने की

सक्रिय प्रवृत्ति मिलकर ही उचित शिक्षा-प्रणाली निर्धारित करके इस महान् देश में प्रचलित कर सकती है।

निरन्तर और निरभिमान श्रम कर सकनेवाले सामान्य किसानों और मज़दूरों की स्वाभाविक सरलता, आचार्य विनोबा भावे जैसे महापुरुषों की दृढ़ कर्मयोगिता तथा डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे विद्वानों का गंभीर ज्ञान मिलकर ही सर्वांगीण सामंजस्य के उस आदर्श की ओर इंगित कर सकते हैं, जिसकी ओर बढ़ने की प्रेरणा, उचित शिक्षा-प्रणाली तथा दीर्घ साधना के द्वारा, प्रत्येक भारतीय को प्राप्त हो सकती है।

इस देश के शिक्षा-विशेषज्ञों का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे त्रिविध उच्च आदर्श को ध्यान में रखकर उचित शिक्षा-प्रणाली-के प्रचलन में शासन तथा जनता की सहायता करें।

ऐसी शिक्षा किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप में तथा सर्वोच्च स्तर तक किसी भी शिक्षासंस्था द्वारा नहीं दी जा सकती। शिक्षासंस्था केवल इतना कर सकती है कि उसे उचित शिक्षा के बीज दे दे और उसे प्रोत्साहित करे कि वह अपनी ख़ुद-की साधना द्वारा उस बीज को पल्लवित, पुष्पित और फलित करके उच्च लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे।

इस देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए अभी कुछ समय के लिए शासन को अधिकतर प्रारम्भिक शिक्षा देने-वाले विद्यालयों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए और उसे प्रत्येक व्यक्ति को प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क रूप में देनी चाहिए। शासन को इसे अपना एक अनिवार्य तथा प्राथमिक कर्त्तव्य समझना चाहिए। इससे

G-4601

वह घोर विषमता कुछ दूर होगी, जो इस देश के जनसाधारण तथा शिक्षित व्यक्तियों में पैदा हो गई है।

योजनाबद्ध रूप में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित जीविका-कार्य की व्यस्था करना भी प्रत्येक लोकतांत्रिक शासन का कर्त्तव्य होता है, पर, यह कर्त्तव्य तब तक सुकर नहीं हो सकता, जब तक प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी शिक्षा न दी जाय कि वह अपनी जीविका का निर्धारित कार्य अच्छी तरह कर सके। मनुष्यों को कार्यक्षम तथा ज्ञानवान् बनाने के लिए कर्म द्वारा ज्ञान देने की बुनियादी शिक्षा-प्रणाली का सुचिन्तित स्वरूप ही कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यह स्वरूप ऐसा हो कि ज्ञान और कर्म दोनों के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति का उचित प्रवेश करा सके। प्रवेश के बाद प्रगति प्रत्येक की साधना पर निर्भर है।

जनता के अशिक्षित बने रहने पर किसी भी देश में लोकतन्त्र नहीं चल सकता। अतः, देश में प्रारम्भिक शिक्षा का शीघ्र ही सर्वव्यापक बनाया जाना अनिवार्य है। इस तथ्य-की ओर से भी आँखें बन्द नहीं की जा सकतीं कि समूचे देश की विशाल जनसंख्या के लिए उचित प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था करने में देश के शासन के शिक्षा-विभाग के वर्तमान सीमित साधन प्रायः समाप्त हो जा सकते हैं। इसलिए, फिलहाल इसके सिवा और कोई मार्ग नज़र नहीं आता कि शासन को अपनी ओर से या अपनी सहायता से कॉलेजों के चलाने का मोह प्रायः छोड़ देना चाहिए। उसे कॉलेजों के स्तर की उच्च-शिक्षा की व्यवस्था-को प्रायः अपनी संकीर्ण सीमा से निकाल कर जनता के लिए मुक्त कर देना चाहिए। आज जिस प्रकार बहुसंख्यक ग़ैर-

सरकारी साहित्यिक संस्थाएँ अपनी परीक्षाएँ मात्र लेती हैं और उनके सम्बन्ध में शिक्षा देने के लिए विद्यालय नहीं चलातीं, उसी प्रकार देश के शासन के शिक्षा-विभाग को भी कॉलेज के स्तर की केवल परीक्षाएँ लेने का उत्तरदायित्व अपने या अपने द्वारा सहायताप्राप्त विश्वविद्यालयों के ऊपर रखना चाहिए तथा कॉलेजों को चलाने में अर्थ-व्यय न करना चाहिए। इस प्रकार कॉलेजों को स्तर की शिक्षा सर्वसाधारण के लिए मुक्त हो जायगी, हर व्यक्ति कॉलेज में प्रविष्ट होने की प्रतियोगिता तथा अर्थ-व्यय के बन्धन से मुक्त रहकर अपने अन्य कार्य करते हुए, जिस तरह चाहेगा, उस तरह, उच्च शिक्षा प्राप्त कर ले सकेगा और परीक्षाएँ देकर आसानी से डिग्रियाँ पानेवाले व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में पैदा होने लगेंगे। इससे कॉलेजों की शिक्षा के प्रति आज के तरुणों का जो अनुचित मोह बढ़ता जा रहा है, वह अपने आप कम हो जायगा, बेकार उच्च शिक्षितों की सरकारी नौकरियों के लिए दिन-रात हाहाकार करने वाली फ़ौज का वर्तमान चिंताजनक स्वरूप शीघ्र ही अपने आप विसर्जित हो जायगा और कॉलेजों पर खर्च होने वाला धन देश की समस्त जनता को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले विद्या-लयों के व्यापक संचालन में ख़र्च किया जा सकेगा। इस देश के शिक्षाक्षेत्र की इस क्षण की माँग तो व्यापकता है, उच्चता नहीं। उच्चता को सार्वजनिक रूप में तथा शासकीय स्तर पर कुछ समय बाद भी हाथ में लिया जा सकता है।

उचित प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले विद्यालय प्रत्येक गाँव, नगर और उपनगर में खुलने चाहिए और उनकी स्थापना को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

अशिक्षा के उन्मूलन का कार्य एक प्रकार के सात्त्विक युद्ध स्तर पर शीघ्र से शीघ्र किया जाना चाहिए। तभी राष्ट्र का व्यापक नवनिर्माण हो सकेगा। इस कार्य के नेतृत्व का उत्तरदायित्व तो शासन ही को उठाना चाहिए और इस पर अपनी आय का बहुत बड़ा भाग खर्च करना चाहिए। साथ ही, उसे यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि जनता भी ऐसे विद्यालयों की स्थापना में उससे हर प्रकार का तथा अधिकतम सहयोग करे। यह प्रारम्भिक शिक्षा यदि उचित प्रकार की होगी, तो वह प्रत्येक व्यक्ति को कला, ज्ञान, विज्ञान आदि की प्रत्येक शाखा की प्रारम्भिक जानकारी के साथ-साथ अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक कार्य कर सकने की क्षमता भी दे सकेगी। किंबहुना, कार्य के माध्यम से ज्ञान का आविष्कार करा सकेगी। जनता में उचित शिक्षा द्वारा उचित ज्ञान तथा कार्यक्षमता उत्पन्न हो जाने तथा शासन-द्वारा सबको जीविकार्जन के योग्य कार्य देने की योजना व्यापक रूप में कार्यान्वित किए जाने पर इस देश से बेकारी की पूर्णतः समाप्ति हो सकती है और कर्म, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि की प्रत्येक शाखा तथा उन शाखाओं के उचित सामंजस्य के क्षेत्र में उचित मात्रा में प्रवेश पाकर इस देश का प्रत्येक निवासी अपने जीवन के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ लोकतंत्र के संचालन तथा राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति में भी अपना उचित अंशदान कर सकता है।

उसी दशा में 'सा विद्या या विमुक्तये' तथा 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' के सिद्धान्तों के अनुरूप शिक्षा के बीज उचित मात्रा में प्रत्येक भारतीय को उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा के व्यापक प्रसार की आर्थिक आवश्यकता-

की पूर्ति के लिए उच्च शिक्षा के विद्यालयों के इस अल्प-कालिक विघटन की प्रक्रिया के दौरान में कॉलेजों के वर्तमान अध्यापकों को दूसरे उचित कार्यों में सम्मानपूर्वक लगाया जा सकता है तथा कॉलेजों के भवनों का अन्य उचित उपयोग किया जा सकता है।

इस परिवर्तन से राष्ट्र की एक बहुत बड़ी सामाजिक समस्या का आंशिक समाधान हो सकेगा। आत्मविकास का साधन समझी जानेवाली शिक्षा का इस देश में सरकारी नौकरी पाने के एकमात्र साधन के रूप में जो हीन स्थान बनाया गया है, वह भी समाप्त हो सकेगा। दूसरी ओर कर्म और ज्ञान के सामंजस्य के आधार पर स्वस्थ और बुद्धिमान् राष्ट्र की नींव डालने का कार्य, प्रारम्भिक शिक्षा के व्यापक प्रसार की ओर अधिक ध्यान देने तथा उस दिशा में अधिक अर्थ-व्यय करने-से, उचित मात्रा में सम्भव हो सकेगा। शिक्षा का सामान्य स्तर पर न्यायपूर्ण तथा विस्तृत वितरण राष्ट्रीय-शिक्षा-योजना-का पहला क़दम होना चाहिए। उसमें उचित सफलता मिलने ही पर उच्च स्तर की ओर दूसरा क़दम बढ़ाना शोभा दे सकेगा।

यद्यपि कॉलेजों पर होने वाले अर्थ-व्यय के स्थगन का यह सुझाव केवल संक्रमण के अल्पकाल ही के लिए हो सकता है, स्थायी व्यवस्था के सम्बन्ध में नहीं और इससे उच्च परीक्षा देनेवाले व्यक्तियों की संख्या पर भी प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि परीक्षाओं की व्यवस्था अलग से रहेगी ही, तथापि इसपर ध्यान देने के लिए भी पर्याप्त साहस की आवश्यकता तो है ही।

साहित्य और नारी

संस्कृति का निर्माण भी पुरुष और नारी के सम्मिलित प्रयत्नों का एक फल है। दोनों में से कोई एक उसकी रचना के सम्पूर्ण श्रेय का दावा नहीं कर सकता।

जहाँ तक साहित्य के सृजन का प्रश्न है, वह भी स्त्री और पुरुष दोनों की प्रायः समान साधना में बँटा हुआ है। किन्तु, साहित्य के विषयनिर्वाचन में दोनों में एक विषमता दृष्टिगोचर होती है। नारी ने सम्भवतः अपने स्वाभाविक शील और संकोच के फलस्वरूप पुरुष को अपने साहित्य का विषय बनाने में उस असंयत उन्मुक्तता का परिचय नहीं दिया है, जिसका परिचय पुरुष नारी को अपने साहित्य का विषय बनाने में देता रहा है।

संसार के साहित्य का अनुशीलन तो बहुत गम्भीर और विस्तृत विषय है, किन्तु, हिन्दी-साहित्य पर तो एक दृष्टि डाली ही जा सकती है। जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, प्रारम्भिक काल से लेकर अतिआधुनिक काल तक में नारी-को पुरुष के असंयत साहित्य-सर्जन का विषय बनने से मुक्ति नहीं मिल पाई है।

नारी की प्रतिक्रिया इस विषय पर क्या है, इसका अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब नारी स्वयं निस्संकोच और मुखर होकर यह

बतावे कि वह पुरुष के वासनाप्रेरित साहित्यसर्जन का प्रमुख विषय बनना किस हद तक पसन्द करती है और उसके लिए पुरुष के द्वारा मर्यादा की कौन सी सीमारेखा स्वीकृत कराना चाहती है।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या मानवजीवन का अधिकांश भाग उसी अनुपात में नारी के प्रति पुरुष के आकर्षण से पूर्ण है, जिस अनुपात में वह हमारे साहित्य में चित्रित दिखाया जाता है। क्या इस विषय में अनेक पुरुष-साहित्यकार प्रायः तारतम्य की भावना का उल्लंघन नहीं कर बैठते ?

मानवजीवन के यथार्थ तथा पूर्ण चित्रण के प्रति यदि साहित्य ईमानदार हो, तो उसमें समष्टि-भाव, मानवता की प्रगति तथा जीवनसंघर्ष को अपेक्षाकृत अधिक स्थान मिलना चाहिए। किन्तु, आज इन्हें उसमें कितना कम स्थान मिल पा रहा है !

यथार्थवादी साहित्य जीवन के यथार्थ चित्रण पर ज़ोर देता है और आदर्शवादी साहित्य जीवन की सत्प्रेरणाओं के अंकन पर। साहित्य का दोनों में से एक भी प्रकार अथवा दोनों का सामंजस्य भी उस एकांगी साहित्य के सर्जन को उचित नहीं मान सकता, जिसका एकमात्र केन्द्रविन्दु नारी-के प्रति पुरुष का असंयत आकर्षण हो। फिर भी, इस प्रकार-के साहित्य का सर्जन आदिकाल से अब तक बहुत बड़ी मात्रा में होता आ रहा है।

तब क्या इसमें पुरुष के मन की कोई गूढ़ मनोवैज्ञानिक गुत्थी छिपी हुई है ? क्या यह उसके मन के किसी अभाव

या दैन्य का प्रकटीकरण है या उसकी उस पलायनवादी मनःस्थिति का व्यक्तीकरण, जो यथार्थ के संघर्ष से मुँह मोड़कर अयथार्थ के काल्पनिक चित्रों की वासनामयी गोद में छिपना चाहती है ?

अनेक तरुण साहित्यकार जब सबसे पहले काग़ज़ पर क़लम चलाते हैं, तब उनका सर्वाधिक प्रिय विषय वही होता है, जिसके अन्तर के वास्तविक रहस्य को वे शायद सबसे कम जानते हैं। और शायद इसीलिए वे उसकी ओर सबसे अधिक आकृष्ट होते हैं। तब क्या साहित्य के सर्जन की प्रारम्भिक प्रेरणा ज्ञान और अनुभूति न होकर अज्ञान, अनुभवहीनता या सुनी-सुनाई बातें ही होती हैं ?

नए-नए विषयों की चट्टानें काट-काटकर अपने लिए नए-नए मार्ग बनाना अधिकांश नौसिख साहित्यकारों की रुचि-का विषय नहीं बन पाता ! वे तो प्रायः अपनी साहित्य-सर्जन-यात्रा के प्रथम पदक्षेप के लिए पुरानी परिपाटियों द्वारा प्रशस्त बना हुआ राजपथ ही चुनना पसन्द करते हैं। वह राजपथ है पुरुष-साहित्यकारों द्वारा नारी के प्रति पुरुष के आकर्षण का वर्णन।

कुछ पुराने उस्तादों ने इस विषय में ऐसी-ऐसी कला-बाज़ियाँ दिखाई हैं कि नए साहित्यकारों को उनका अनुसरण करने में कोई नया प्रयास नहीं करना पड़ता, यह दूसरी बात है कि वास्तविक साहित्यमर्मज्ञ ऐसे घिसे-पिटे प्रयासों-के समीक्षण-पर्यवेक्षण से ऊबने लगें।

नारी को भी अधिकार है कि वह लोकतंत्र के इस युग-में समानाधिकार के साथ यह स्पष्ट प्रश्न करे कि साहित्य-

जगत् में उसे लेकर आखिर यह चेष्टा कब तक चलती रहेगी ?

नारी को अधिकार है कि वह प्राचीन और नवीन हिन्दी साहित्य का गम्भीर और व्यापक अध्ययन करे और निस्संकोच होकर बतावे कि पुरुष-साहित्यकारों ने उसके सम्बन्ध में अब तक जो कुछ लिखा है, वह उसे पसन्द है या नापसन्द। अपनी रुचि अथवा अरुचि के समर्थन में उसे संतोषजनक तर्क भी उपस्थित करने चाहिए और पुरुष-साहित्यकारों को स्पष्टतया बताना चाहिए कि वह फूल, चन्द्र या मूर्ति की तरह मूक नहीं है कि अपने सम्बन्ध में लिखे गए साहित्य के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न कर सके। वह जीवित भी है और उसके पास वाणी भी है। उसमें स्वाभिमान भी है और वर्गचेतना भी। उसे अब यह भी अनुभव करना प्रारम्भ कर देना चाहिए कि यदि उसके साथ साहित्य में अब तक कोई अन्याय किया गया है, तो किसी सीमा तक उसका उत्तरदायित्व साहित्य के प्रति उसकी उदासीनता, मौन या सहनशीलता का भी है।

यदि वह अपने सम्बन्ध में लिखे जाने वाले साहित्य के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का व्यक्तीकरण करने में साहस का परिचय देने लगे, तो हमारे साहित्य का उस सीमा तक उचित परिष्कार तीव्र गति से होने लगे।

इससे बढ़कर सौभाग्य किसी साहित्य का क्या हो सकता है कि उसका एक प्रधान विषय स्वयं यह बताता चले कि उसके साथ उस साहित्य में न्याय हो रहा है या नहीं ?

नारी का केवल एक ही स्वरूप नहीं है। वह केवल प्रेयसी ही नहीं है। वह पुत्री भी है, बहन भी है, पत्नी भी है, माता भी है और लोकसेवा के विस्तृत क्षेत्र में पुरुष की, रिश्तों से दूर किन्तु आदरणीय, सहकर्मिणी भी है। किन्तु, हमारे साहित्य में नारी के इन विविध रूपों के साथ क्या उचित न्याय किया गया है? क्या उन्हें उतना स्थान मिला है, जितना नारी के प्रेयसी-रूप के चित्रण को मिला है?

प्रश्न इस भावना की शुद्धाशुद्धि या प्रकारभेद का नहीं है। प्रश्न है इसकी अतिव्याप्ति का, जिससे हमारा साहित्य इस सीमा तक आक्रान्त हो गया है कि उसमें नवीनता की दृष्टि से एक प्रकार का गतिरोध उत्पन्न हो गया है। अधिकांश नए साहित्यकारों की प्रतिभा इसके मोह से इस हद तक मुग्ध हो रही है कि वह नवनवोन्मेषशालिनी कहलाने के बदले गतानुगतिक कहलाने योग्य ही हो गई है! उसे अधिकतर घूम-फिरकर केवल एक ही विषय मिल पाता है और वह है नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण। "मैं, मेरी प्रियतमा, मेरा गीत और मेरा संघर्ष!" ही अनेक तरुण साहित्यकारों का नारा बन गया है।

यदि इस एक ही बात को नए-नए संकेतों, प्रतीकों और ढंगों के द्वारा और चित्रविचित्र रूप में कहने का नाम ही नवसाहित्यसर्जन या प्रगतिशीलता हो, तो निस्सन्देह वह हिन्दी में आज बहुत बड़ी मात्रा में हो रहा है। किन्तु, यदि साहित्य जीवन की व्यापक और वास्तविक तसवीर है, तो वह तसवीर हमारे आज के साहित्य में कम ही उतर पा रही है।

नारी और नर यदि निरंतर एक दूसरे के भले या बुरे आकर्षण ही में रत रहें और अपने उस एकांगी आकर्षण ही

से साहित्य को भी सर्वतः भरने की चेष्टा करते रहें, तो साहित्य के भविष्य के विषय में कोई बड़ी आशा नहीं की जा सकती।

इसके विपरीत यदि नर और नारी मिलकर व्यापक मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण अनुभूति को अपने हृदय में स्थान दें और उस व्यापक अनुभूति को साहित्य में भी अवतरित करें, तो साहित्य निस्सन्देह संकीर्ण सीमा में घुट-घुट कर मरने से बच सकता है। उस दशा में मानव की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को अपने योग्य कार्यक्षेत्र मिल सकता है और हमारे साहित्य में उतना ही मार्मिक, मौलिक, सूक्ष्म, गम्भीर, नित्यनव और व्यापक सर्जन हो सकता है, जितनी मानव-जीवन की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ मिलकर हो सकती हैं।

यह इस निबन्ध का आशय कदापि नहीं है कि नारी के प्रेयसी-स्वरूप के वर्णन का साहित्य से बहिष्कार हो, किन्तु, इसका यह आशय अवश्य है कि मौलिक प्रतिभा से शून्य तरुणों की नवनवसाहित्यसर्जन की अक्षमता को एकमात्र इसी भावना के एकांगी नीड़ में आश्रय न मिलता रहे, बल्कि, हमारे साहित्यस्रष्टाओं को नई-नई दिशाओं में उड़नेवाले कल्पना के पंखों की जीवनपूर्ण फड़फड़ाहट भी मिल सके।

अकेले नर का यह काम नहीं है कि वह एकांगी भावना-की इस संकीर्णता से साहित्य को मुक्ति दिला सके, नारी का भी कर्त्तव्य है कि वह इस महत् कार्य में अपनी सजग सक्रियता का पूर्ण सहयोग प्रदान करे।

प्रतिभाशाली तथा विदुषी महिलाओं को साहित्यक्षेत्र में साहसपूर्वक आगे आना चाहिए और स्वयं साहित्य-सर्जन

करके पुरुषों को साहित्य की निर्मलता और उच्चकोटि की रक्षा करना सिखाने का यत्न करना चाहिए। इस कार्य के लिए उन्हें स्वयं स्वस्थ और सजीव साहित्य-निर्माण भी करना चाहिए और पुरुषों द्वारा निर्मित अनभीष्ट प्रकार के साहित्य-की कठोर आलोचना भी।

यदि यह न हुआ, तो पुरातन स्थूल युग की वही गर्हित, एकांगी तथा संकीर्ण भावना, जो पहले स्थूल प्रतीकों द्वारा व्यञ्जित होती थी, आधुनिक सूक्ष्म युग में भी सूक्ष्म और विविध प्रतीकों के छद्मरूप में हमारे साहित्य को आक्रांत करके दुर्बल बनाती रहेगी और साहित्य और नारी का सम्बन्ध लोकतांत्रिक नवयुग के अनुरूप स्वस्थ और गौरवपूर्ण न हो सकेगा।

सांस्कृतिक नवचेतना के वाहन तुलसीदास

भारतीय जनता को अपने सांस्कृतिक विकास के लिए आज नई चेतना और नई दृष्टि की आवश्यकता है। उसे यह नई दृष्टि स्नेह, सहानुभूति तथा घनिष्ठ सम्पर्क ही के द्वारा दी जा सकती है। यह जनसम्पर्क उन लोगों से उचित त्याग और बलिदान की अपेक्षा रखता है, जिन्हें अंशतः नवचेतना और नई दृष्टि प्राप्त हो चुकी है। स्वभावतः ऐसे व्यक्तियों की संख्या इस देश में अधिक नहीं है और उनमें अधिकांश एक दीप-से अनेक दीप जलानेकी साधनासाध्य प्रक्रिया का प्रयोग करने जनता के बीच में जाने के बदले अपने जीवन के सुखोपभोग-के अधिकतम साधन जुटाने में लगना अधिक पसन्द करते हैं। फलतः, जनता के सांस्कृतिक दैन्य के निराकरण का उचित उपाय नहीं हो पा रहा है।

इस दिशा में एक बाधा यह भी है कि इस देश की जनता नवीनतम सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए भी पुरातन नींव चाहती है। उसकी इस मनःस्थिति का उचित विश्लेषण न-कर पाने के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र के अनेक कार्यकर्ताओं-को, यत्न करने पर भी, जनता का सक्रिय समर्थन नहीं मिल पाता।

इस देश की अधिकांश जनता ग्रामों में रहती है और उसमें किसी भी प्रकार की चेतना उत्पन्न करने के लिए यह

आवश्यक होता है कि उस चेतना के सन्देशवाहक ग्रामवासियों के साथ अधिक से अधिक तन्मय, समरस और एकरूप हों।

महात्मा गाँधी और आचार्य विनोबा भावे को भारतीय जनता के हृदय की तंत्री को झंकृत करने में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका रहस्य यह है कि जनता को उनके रहन-सहन और जीवनदर्शन में अपने आदर्शों और जीवन का वास्तविक प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हुआ। जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की जो युगों की पुरातन संचित थाती थी, उसीकी पृष्ठभूमि की नींव पर इन महापुरुषों ने अपने प्रगतिशील जीवनकार्यों की नींव रखी। फलतः, ये जनता को हर दृष्टि से अपने प्रतीत हुए, पराए नहीं।

तुलसीदास, तुकाराम आदि कवियों की सफलता का भी किसी अंश तक यही रहस्य है। इन्हें भी प्रायः इसीलिए इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई कि इनके आचार और विचार में उन्हीं उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा थी, जिन्हें भारतीय जनता सदा से प्रेम करती आई है।

जहाँ तक हिन्दी बोलने और समझनेवाली जनता का प्रश्न है, उसे तुलसीदास से अधिक प्रेरणा देनेवाला और कोई कवि आज तक प्राप्त नहीं हुआ। ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, कुटी-कुटी और भवन-भवन में आज तुलसीदास को जो सम्मान प्राप्त होता है, वह और किसी कवि को प्राप्त नहीं है।

इसका कारण यह है कि रामचरितमानस पढ़ और सुन सकनेवाली जनता को तुलसीदास में वे सब उच्चादर्श

प्राप्त होते हैं, जिन्हें वह युग-युग से आदर की दृष्टि से देखती आई है। तुलसीदास के जीवन और विचारों में कोई अंतर नहीं था। यह एक ऐसी विशेषता है, जो भारतीय जनता का हृदय जीत लेती है।

तुलसीदास एक क्रांतिकारी महाकवि थे। उन्होंने अनेक बन्धनों को तोड़ा था। उन्होंने जनता को नई चेतना और नई दृष्टि देने का यत्न किया था। किन्तु, उन्होंने यह सब उस आधारभूमि पर खड़े होकर किया था, जो भारत की प्राचीन संस्कृति के 'सर्वश्रेष्ठ' का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए, उन्होंने इतनी सफलता और लोकप्रियता प्राप्त की। इसीलिए, उनका मस्तिष्क आकाश में होते हुए भी पैर ज़मीन ही पर जमे रहे। वे केवल कल्पनाविहारी कलाकार न होकर जीवन की वास्तविकता पर खड़े होने वाले सत्याश्रित साहित्यसाधक थे।

आज आवश्यकता इस बात की है कि जनता पर पाए जानेवाले तुलसीदास के इस व्यापक और गहरे प्रभाव से, जनहित की दृष्टि से, लाभ उठाया जाय। उसे जनता में नई सांस्कृतिक चेतना और नई दृष्टि उत्पन्न करने का साधन बनाया जाय। यह तभी हो सकता है, जब ग्रामों की जनता में तुलसीदास के साहित्य, कला, आदर्श और जीवन के अध्ययन की नई दिशा और नई दृष्टि का प्रचार किया जाय।

तुलसीदास महात्मा, संत, भक्त, महापुरुष और संन्यासी थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु, वह इन सबसे अधिक महाकवि थे। उनका 'कवि'-रूप ही सर्वोपरि है। आज इस साहित्यिक सत्य की ग्रामीण जनता को उपलब्धि

कराने की आवश्यकता है। यदि इसमें सफलता मिली, तो उससे यह सिद्ध होगा कि तुलसीदास कोटि-कोटि जनता की सांस्कृतिक नवचेतना के सफल एवं स्वाभाविक वाहन बन सकते हैं।

अधिकांश जनता आज तुलसीदास और उनके रामचरितमानस का सम्मान अधिकतर धार्मिक दृष्टि ही से करती है। इससे रामचरितमानस का साहित्यिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक सौन्दर्य जनता की दृष्टि से अधिकतर ओझल ही बना रहता है और राष्ट्रीय महाकवि के नाते तुलसीदास-का उचित आदर नहीं हो पाता। प्रधान चीज़ गौण बन जाती है और गौण प्रधान।

दूसरे देश अपने महाकवियों का सम्मान अपने राष्ट्रीय साहित्यकारों के रूप में करते हैं, भले ही उनकी रचना के विषय धार्मिक या नैतिक हों। वे उनके वास्तविक साहित्यिक स्वरूप का परिचय अपनी अधिकांश जनता को कराने में अपने विपुल साधनों का पूरा उपयोग करते हैं। भारत के नव लोकतंत्र के शासकों को भी इस दिशा में अपने कर्त्तव्य-का अनुभव और पालन करना चाहिए।

हिन्दी समझनेवाली बहुसंख्यक जनता में सांस्कृतिक नव-चेतना उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सबसे अधिक प्रिय साहित्यकार तुलसीदास के सर्वोपरि स्वरूप, साहित्यिक स्वरूप, की पूर्ण उपलब्धि उसे कराने का यत्न किया जाय। इसके लिए जनता को नई दृष्टि देनी होगी।

महाकवि तुलसीदास को धार्मिक दृष्टि से जनता की इतनी अधिक श्रद्धा प्राप्त है कि यदि उन्हें राष्ट्रीय साहित्यकार-

के रूप में जनता से परिचित कराने का यत्न किया जायगा, तो इस कार्य में जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा। तुलसीदास को साहित्यकार के रूप में समझने का यत्न करते-करते जनता उनके साहित्य का वास्तविक साहित्यिक महत्त्व भी समझने लगेगी। जब वह उनके साहित्य का साहित्यिक दृष्टि ही से उचित मूल्यांकन करने लगेगी, तब उसकी रुचि को वे साहित्यिक मानदंड स्वभावतः प्राप्त हो जायँगे, जिनकी सहायता से वह अन्य साहित्यकारों की रचनाओं का भी उचित रूप में रसास्वादन तथा सम्मान कर सकेगी। इससे इस देश की जनता के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विकास का द्वार अनायास खुल जायगा और जनश्रद्धा के सहयोग से साहित्यकारों का जीवन भी हर दृष्टि से उन्नत होगा।

इस देश की जनता प्रतीकों को विशेष स्नेह की दृष्टि से देखती है। जब कोई महापुरुष कुछ उच्चादर्शों का प्रतीक बन जाता है, तब वह इस देश की जनता का अनायास श्रद्धाभाजन बन जाता है। फिर तो वह उन उच्चादर्शों के अध्ययन और अनुसरण की मूर्त्तिमती प्रेरणा बन जाता है, जिनको वह अपना जीवन अर्पित कर चुका होता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ था, उसका प्रतीक राम को बनाया गया। फलतः, जनता ने राम के रूप में उन महान् आदर्शों की उपासना प्रारम्भ कर दी, जो भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। राम की इस उपासना के प्रतीक बने तुलसीदास। इस रूप में तुलसीदास ने जनता के हृदय में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया।

नवयुग के आगमन के साथ-साथ अब सांस्कृतिक क्षेत्र-

में नई रचना की अनिवार्य आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। किन्तु, इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है, जब हम पुरातन के उच्चादर्शों के उक्त प्रतीकों को नष्ट करने के बदले उनकी अन्तरात्मा का विश्लेषण करके जनता को उसे उस वास्तविक रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा दें, जो नवयुग के अनुकूल तथा स्वाभाविक है।

आज जनता को यह बताए जाने की आवश्यकता है कि राम उन सब महान् आदर्शों का नाम है, जो मानवता के विकास के प्रेरक हैं और तुलसीदास उन आदर्शों को जीवन और व्यवहार में अवतरित करने की अथक साधना का नाम है। यह साधना जब आत्माभिव्यक्ति के रूप में शब्दों के माध्यम से दीपावलि के प्रथम दीप से अन्तिम दीप तक ज्योतिरेखा बनकर दौड़ जाना चाहती है, तब वह रामचरित-मानस कहलाती है, जो साहित्यकला ही का दूसरा नाम है।

किन्तु, यह महान् उपलब्धि जनता को एकदम नहीं कराई जा सकती। इसका भी एक क्रम होना अनिवार्य है।

प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जो तुलसीदास के साहित्य का वास्तविक स्वरूप और मर्म किसी अंश तक समझता है, अपने समय का कुछ भाग सेवा-भावना से उन साहित्यिक संस्थाओं-को देना चाहिए, जो जनता के सांस्कृतिक विकास को अपना लक्ष्य समझती हैं। उन संस्थाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे व्यक्तियों द्वारा जनता को तुलसीदास के रामचरितमानस-का साहित्यिक सौन्दर्य समझने की प्रेरणा दिलानी चाहिए। धार्मिक अन्धश्रद्धा के भार के नीचे दबे हुए रामचरितमानस के साहित्यिक सौन्दर्य को जब ग्रामीण जनता समझने लगेगी, तब उसकी साहित्यिक सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति

इतनी बढ़ जायगी कि वह अन्य साहित्यिक ग्रन्थों का भी वास्तविक महत्त्व समझने और उनका उचित रसास्वादन करने लगेगी।

शिक्षित भारतीय महाकवि तुलसीदास की स्मृति में शाब्दिक श्रद्धा के फूल बहुत चढ़ा चुके। अब उस शाब्दिक आडम्बर की समाप्ति होनी चाहिए और उसका स्थान सक्रिय और निरन्तर श्रद्धांजलि को मिलना चाहिए।

यह विषमता अत्यन्त लज्जाजनक है कि शहरों के मुट्ठी-भर व्यक्ति तो तुलसीदास के साहित्य का वास्तविक मर्म समझें और उसका पूर्ण आनन्द लें और गाँवों के अधिकांश निवासी अपने अज्ञान तथा धार्मिक अन्धश्रद्धा के कारण उन्हें राष्ट्रीय महाकवि के वास्तविक रूप में ग्रहण करने में असमर्थ ही बने रहें।

जो व्यक्ति किसी वस्तु, व्यक्ति या आदर्श से वास्तविक, तन्मय, हार्दिक और उत्कट प्रेम करता है और उस प्रेम को सरस वाणी प्रदान करता है, वह सबसे पहले कवि है, उसके बाद कुछ और। विभिन्न महाकवियों के हार्दिक प्रेम के विषय विभिन्न हो सकते हैं, पर, यदि उन्हें अपने उस उत्कट प्रेम को सरस रूप में भाषा में अवतरित करने में सफलता मिलती है, तो वे निस्सन्दिग्ध रूप में महाकवि माने जाते हैं। तुलसीदास के हार्दिक तादात्म्य का विषय भले ही राम-भक्ति रहा हो, किन्तु, उसे मानस के रूप में सरस और साकार करने में उन्हें जो सफलता मिली, उसने उन्हें हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ महाकवि बना दिया। किन्तु, उन्हें राष्ट्रीय महाकवि के रूप में उचित एवं व्यापक सम्मान तब तक नहीं मिल सकता,

जब तक उन्हें अधिकांश ग्रामीण जनता में अधिकतर धार्मिक दृष्टि से प्रतिष्ठित किया जाता रहेगा। धार्मिक महत्त्व के व्यक्तियों का इस देश में अभाव नहीं है। किन्तु, तुलसीदास-की कोटि के महाकवि कितने हैं? यदि तुलसीदास को भी साहित्यिक महाकवि के रूप में अधिकांश जनता में प्रथम प्रतिष्ठा न मिली, तो जनता के हृदय-द्वार पर साहित्य और संस्कृति के लिए सदा "प्रवेशो निषिद्धः" ही लिखा रहेगा।

यदि महाकवि तुलसीदास के सम्बन्ध में जनता को नई दृष्टि दी जा सके, वह सांस्कृतिक नवचेतना के वाहन बनाए जा सकें, तो जनता की सांस्कृतिक चेतना को नया द्वार मिले, तुलसीदास के बाद के साहित्यकारों को भी जनता का हार्दिक स्नेह और सम्मान प्राप्त हो तथा जनता की साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नति लोकतन्त्र के अनुरूप स्तर पा सके।

साहित्यकार की सामाजिकता

आश्चर्य है कि अभिनव मानवमूल्यों के इस युग में भी कभी-कभी किसी-किसी क्षेत्र से यह आवाज़ उठाई जाती है कि साहित्यकार एकान्त का प्राणी है, उसकी सामाजिकता अहितकर है और साहित्यकारों का संगठन तो उतना ही कठिन है, जितना मेंढकों का तोला जाना या हिमालय के उच्च शिखरों का शृंखलाओं में बाँधा जाना। किन्तु, इस स्वर-के पीछे केवल भ्रम का आधार है।

वस्तुतः, प्रत्येक मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। साहित्य-कारों में जिस सीमा तक मनुष्यता का अस्तित्व है, उस सीमा तक उनकी सामाजिकता भी अनिवार्य है और उनका संगठन भी सम्भव है।

इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य को छुई-मुई का पौधा और साहित्यकार को उस पौधे की आधारभूमि माननेवाले विचारकों का भी संसार-में एक प्रकार है और वह प्रकार बहुत पुराना है। उन विचारकों का अस्तित्व सदा रहा है; आज भी है। किन्तु, उनके पैरों के नीचे की ज़मीन अब खिसक रही है। साहित्य-को सामाजिक परिवर्तन का एक शक्तिशाली माध्यम स्वीकार करने से जो शक्तियाँ, स्वार्थ-वश, इनकार करती हैं, वही ऐसे विचारकों को इस युग में भी अंतिम सहारा दे रही हैं।

प्राचीनकाल में मानवप्रतिभा का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था। वैचारिक सूक्ष्मताओं और जटिलताओं से उसका इतना अधिक सम्पर्क नहीं हुआ करता था। उस समय साहित्य के अंतर्गत ज्ञान, विज्ञान और ललित वाङ्मय के इतने अधिक तथा विविध अंगों का समावेश नहीं होता था। विशेषतः भारत में तो उस युग में साहित्य का सर्वाधिक प्रभावशाली अंग केवल काव्य समझा जाता था और न केवल भावना और कल्पना का बल्कि वैज्ञानिक विषयों के विवेचन का वाहन भी काव्य, और वह भी पद्यकाव्य ही माना जाता था। व्याख्याओं की प्राथमिकता, सरलता और संकीर्णता के उस युग में काव्य को साहित्य का पर्याय मानकर कहा गया था कि 'काव्यं यशसे, अर्थकृते' अर्थात् काव्य का लक्ष्य यश तथा धन की प्राप्ति है और इस प्रकार साहित्य का लक्ष्यनिर्धारण करने का एक प्रारम्भिक एवं सरल यत्न किया गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे साहित्य का केवल पार्थिव तथा एकांगी लक्ष्य ही प्रकट हुआ था, किन्तु, इस संकुचित लक्ष्यनिर्धारण से भी साहित्यकार की सामाजिकता की ध्वनि तो निकलती ही थी।

यश और धन की प्राप्ति के लिए भी साहित्यकार का समाज के सम्पर्क में आना अत्यन्त आवश्यक था और स्वयं सामाजिक बने बिना उसका उसके सम्पर्क में आना असम्भव था। यदि साहित्यकार समाज के सम्पर्क से दूर रहनेवाला तथा केवल अपनी एकांत साधना, अहंकार तथा स्वार्थ के संकुचित घेरे में रहनेवाला प्राणी होता, तो उसे न तो यश ही मिल सकता था और न धन।

क्रमशः मानवजीवन के मूल्यों में परिवर्तन हुआ और

उसके साथ-साथ साहित्यकार को भी केवल यश और धन-से सम्बन्ध रखनेवाली संकुचित सामाजिकता के पार्थिव घेरे-से बाहर निकलना पड़ा।

व्याख्या का विस्तार अब यहाँ तक आ पहुँचा है कि साहित्य का लक्ष्य अब मानवता का कल्याण और उसकी प्रगति माना जाने लगा है। इस लक्ष्य के प्रति ईमानदार रहने के लिए साहित्यकार के लिए आवश्यक हो गया है कि वह न केवल समाज से सम्पर्क रखे, बल्कि, मानवता की सेवा भी करे। यह सेवा केवल शाब्दिक सहानुभूति की नहीं, बल्कि सतत जागरूक तथा व्यावहारिक सक्रियता की भी अपेक्षा रखती है।

मानवता की सक्रिय तथा दीर्घकालव्यापक सेवा से प्राप्त जन-सम्पर्क तथा प्रकृति-पर्यवेक्षण से प्राप्त तादात्म्य के अनुभव-को जब साहित्यकार पूर्णतया आत्मसात् करता है और उसे अपनी रस तथा आनन्द की स्वस्थ सर्जनशक्ति से संयुक्त करके साहित्य का निर्माण करता है, तभी ऐसा साहित्य संसार-को प्राप्त होता है, जो मानवता के हृदय, आत्मा तथा जीवन-का सांस्कृतिक विकास और उसका कल्याण कर सकता है तथा साथ ही स्वयं भी चिरन्तन रूप में जीवित रह सकता है।

जब साहित्य के निर्माण के मूल में सामाजिकता है, तब उसके प्रसार में तो उसका सहयोग अनिवार्य ही है।

यदि उपर्युक्त धारणा के पीछे वास्तविकता का आधार है, तो फिर यह धारणा अपने आप अवास्तविक सिद्ध हो जाती है कि साहित्यकार की साधना तो व्यक्तिमूलक होती है और

साहित्यकारों का संगठन तथा सामाजिकता से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

"कला-कला के लिए" कहकर अनेक साहित्य-समीक्षकों-ने विगत युगों में साहित्यकार को लक्ष्यभ्रष्ट करने का यत्न किया, किन्तु, उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। अधिक गम्भीर चिन्तन के बाद समीक्षा के नवयुग ने "कला मानवता-के लिए" सिद्धान्त का उद्घोष किया है। यह सिद्धान्त साहित्यकार की सामाजिकता के सिद्धान्त पर आधारित है।

साहित्य-सर्जन निराधार आकाशकुसुम का सर्जन नहीं है, उसके लिए मूलाधार, पृष्ठभूमि, वातावरण आदि की आवश्यकता होती है। इन सब का मूल है अनुभूति और अनुभूति की वास्तविकता और परिपक्वता जनसम्पर्क तथा प्रकृतिसम्पर्क की स्वाभाविक अपेक्षा रखती है। केवल सर्जन-के कुछ क्षणों में भले ही साहित्यकार को एकान्तनिष्ठ होना पड़ता हो, पर, सर्जन का आधार प्राप्त करने के लिए तो उसका सामाजिक होना अनिवार्य ही है और सामाजिक होने की पहली सीढ़ी यह है कि साहित्यकार परस्पर-संगठन तथा सहकारिता का महत्त्व समझें।

यदि संसार में केवल एक साहित्यकार होता या साहित्यकारों को एक-दूसरे के साहित्य या जीवन का सम्पर्क प्राप्त करने का कोई साधन उपलब्ध न होता, तो साहित्य का अर्थ केवल एक शून्य होता। साहित्य की सरसता और सजीवता उसकी मौलिकता, विविधता, नवीनता आदि पर निर्भर है और साहित्य में इन गुणों की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यकारों का परस्पर-सम्पर्क तथा सहयोग अत्यन्त

आवश्यक है, जो साहित्यकार की सामाजिकता का एक प्रमुख स्रोत है।

आनन्दप्राप्ति और रसानुभूति का निरुद्देश्य होना न केवल निरुपयोगी है, बल्कि, ख़तरनाक भी है। एक शराबी यदि यह कहे कि शराब पीना केवल इसलिए उचित और आवश्यक है कि उससे उसे आनन्द मिलता है, तो उसकी बात को कोई ज़रा भी महत्त्व न देगा। किन्तु, यदि कोई साहित्यकार यह कहे कि वह केवल इसलिए साहित्य-सर्जन करता है कि उससे उसे आनन्द मिलता है, तो उसे कुछ समर्थक अवश्य मिल जायँगे। अदूरदर्शी समीक्षकों का यह समर्थन ऊपर से मधुर प्रतीत होने पर भी अन्दर से साहित्य-को निर्जीव और निःसत्व बनानेवाला है। यदि साहित्यकार-में सत्यदर्शन की क्षमता हो और उसके साहित्य में जीवित रह सकने की शक्ति हो, तो उसे यह कहना होगा कि वह साहित्य-सर्जन इसलिए करता है कि उससे उसे आनन्द भी मिलता है और मानवता का कल्याण भी होता है। जिस सीमा तक वह अपने साहित्यसर्जन और जीवन का अपनी इस घोषणा के साथ सक्रिय सामंजस्य कर सकेगा, उसी सीमा तक उसके जीवन और साहित्य की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

यह सामंजस्य अपने अन्दर सामाजिकता के सक्रिय तत्त्व रखता है और उन तत्त्वों से बचकर रहना किसी भी वास्तविक साहित्यकार के लिए सम्भव नहीं है। यदि वह उनसे बचकर रहने का यत्न करेगा, तो मानवता, प्रकृति तथा संसार से कटकर सदा के लिए अलग और अकेला पड़ जायगा। उस स्थिति में उसे सर्जन के लिए एकान्त चाहे

जितना मिले, वह मूलाधार न मिल सकेगा, जिसकी पृष्ठभूमि पर साहित्य बनता, खड़ा रहता, आगे बढ़ता और जीता है। वह मूलाधार तो, अनेक अंशों तक, साहित्यकारों की सामाजिकता, पारस्परिक सहयोग और संगठन ही से मिल सकता है।

साहित्य के सर्जन के लिए सामाजिकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही साहित्य के प्रसार के लिए भी है।

साहित्य के साथ साहित्यकार की आत्मा, उसका हृदय, उसका मस्तिष्क और उसकी साधना तो है ही, उससे उसके पार्थिव जीवन का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अपने साहित्यसर्जन के लिए हार्दिक, आत्मिक तथा मानसिक आधार, प्रेरणा, शक्ति और ख़ुराक प्राप्त करने के लिए साहित्यकार जनसम्पर्क और समाजसेवा में लग सकता है, किन्तु, यह कार्य वह सर्वथा पवित्रकर्त्तव्यभावना ही से कर सकता है। इस कार्य पर वह अपने भौतिक जीवन-निर्वाह का भार नहीं डाल सकता। इसका आर्थिक प्रतिफल वह नहीं चाह सकता। साहित्य के निर्माण के क्षणों में भी साहित्यकार में अर्थलाभ की आकांक्षा की मनोवृत्ति नहीं रहनी चाहिए। सर्जन की वास्तविक प्रेरणा होने पर उसे "कला कला के लिए, आनन्द के लिए और मानवता के कल्याण और विकास के लिए"—इस सिद्धान्त के अनुसार ही, हार्दिक सद्भावना के साथ, साहित्यसर्जन करना चाहिए। किन्तु, जब इस पवित्र भावना के साथ साहित्य का निर्माण हो चुके, तब साहित्यकार को यह आशा और आकांक्षा रखने का न्यायोचित अधिकार हो सकता है कि साहित्य-सर्जन के कार्य के लिए जीवन-अर्पण तथा तादात्म्य की क्षमता

देने के लिए समाज उसे जीवनधारण के साधन भी दे और वे साधन उसे साहित्य के प्रसार के माध्यम ही से प्राप्त हों, और किसी माध्यम से नहीं। साहित्यकार की इस आशा और आकांक्षा में कोई अनौचित्य नहीं है। उसे इसमें ज़रा भी संकोच का अनुभव न करना चाहिए। यदि वह संकोचवश अपने उचित जीवननिर्वाह के अधिकार को छोड़ देगा, तो उसे अपने स्वाभिमान को खोकर समाज के अनाथालय का प्राणी बनना पड़ेगा। उस दशा में उसके साहित्य में भी वह तेज न रहेगा, जो समाज के जीवन तथा गति की दिशा बदलने की क्षमता रखता है।

आधुनिक युग ने जहाँ अनेक भीषण विध्वंसक शक्तियों-का आविष्कार किया है, वहाँ उसने एक अमोघ रचनात्मक सामाजिक शक्ति का भी आविष्कार किया है। वह है सहकारिता। अपने शरीर, मस्तिष्क, हृदय या आत्मा की सर्जनशक्ति या शुद्ध श्रम से जीना चाहनेवाले प्रत्येक मानव-की वह सबसे बड़ी शक्ति है। साहित्यकार का समावेश भी ऐसे ही मानवों में होता है। यदि साहित्यकार के जीवन-की स्वाभाविक सामाजिकता, भ्रान्त धारणाओं के कारण, मर नहीं गई है, तो वह भी सहकारिता के अमोघ अस्त्र का उपयोग अपने जीवन को सार्थक तथा अधिक सर्जनक्षम बनाने में कर सकता है।

मानवता को प्रकाश, जीवन, शक्ति, प्रेरणा और संस्कार देनेवाला, आनन्द और रस देनेवाला, दिशा दिखलानेवाला तथा विकसित और प्रगतिशील बनानेवाला साहित्यकार यदि सामाजिकता को साहित्य की विघातक प्रवृत्ति मानेगा और सहकारिता, संगठन और योजना से परहेज़ करेगा,

तो वह स्वयं अंधकार में पड़ा रहेगा, वह स्वयं जीवन, शक्ति, आनन्द, रस, विकास, प्रगति और प्रेरणा से वंचित रह जायगा।

यह नवयुग की अनिवार्य आवश्यकता है कि साहित्यकार सामाजिकता को अपने जीवन में अधिक से अधिक स्थान दे, पारस्परिक सहकारिता तथा संगठन के सहारे अपने जीवन और साहित्य को अधिक से अधिक उन्नत बनावे और निस्संकोच होकर अपनी सामाजिकता को न केवल अपने साहित्य के सर्जन का आधार बनावे, बल्कि, सामाजिकता तथा सहकारिता के सहारे अपने साहित्य के प्रसार तथा उसके प्रसार से प्राप्त आर्थिक प्रतिफल के द्वारा जीवनधारण के उचित अधिकार की रक्षा के साधनों की प्राप्ति भी करे। संगठन तथा सामाजिकता के अभाव में साहित्यकार शोषित, वंचित तिरस्कृत तथा स्वाभिमानशून्य होकर ही जी सकता है और मानवता के जीवनप्रेरक का ऐसा घृणित जीवन उसके गौरव के अनुरूप नहीं समझा जा सकता। इतना ही नहीं, उससे सजीव, स्वस्थ तथा स्थायी साहित्य के सर्जन की आशा भी नहीं की जा सकती।

कंठ और कर्ण की कविता

कंठ और कर्ण की कविता वह है, जिसकी मधुरता या प्रभावशालिता बढ़ाने में कंठस्वर की मधुरता या प्रभावशालिता से विशेष सहायता ली जाती है और जिसके रसास्वादन में कानों की विशेष उपयोगिता होती है। इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि इस कविता का अपना एक विशेष स्थान, महत्त्व और उपयोगिता है। कविसम्मेलनोंकी कविता के रूप में यह इस देश के काफ़ी विस्तृत क्षेत्र में सुपरिचित है। अपनी विशिष्ट दिशा में यह उत्तरोत्तर प्रगति करती जा रही है।

हिन्दी-भाषा के साहित्यिक इतिहास में भी इसका स्थान काफ़ी पुराना है। किसी अंश तक यह कहा जा सकता है कि आशुकविता की रचना और मुखाग्र-पाठ की कला में विशेष दक्ष चारणों की कविता सम्भवतः इसकी जननी है। उस युगमें कंठ और कर्ण की इस कविता की युद्ध के उत्साहवर्धन के काम में विशेषतया सहायता ली जाती थी। उस समय इसके लिए कंठकी मधुरता के बदले ओजस्विता और प्रभावशालिताकी विशेष उपयोगिता मानी जाती थी। इसके आश्रयदाता प्रायः वे राजा और सामन्त होते थे, जिनके जीवन में उन दिनों युद्ध को विशेष स्थान प्राप्त होता था। चारण उनके उत्साहवर्धन के लिए ओजस्वी आशुकविता का प्रचुर प्रयोग

करते थे और उसके बदले यथासम्भव आर्थिक पुरस्कार पाते थे।

उसके बाद भी, इस कविता का सामन्ती आधार तो काफ़ी समय तक क़ायम रहा, किन्तु, यह रणक्षेत्र में उत्साह-वर्धन के बदले दिन में राजदरबार में प्रशस्तिगान तथा रात-में विलासभवन में शृंगारिक मनोरंजन का काम करने लगी। कतिपय मठों और मन्दिरों के धनिक महंतों की कृपा भी ऐसी कविता के कुछ धार्मिक रूपों के जीवनों का आधार बनती रही।

जब इस देश पर फ़ारसी और उर्दू भाषा के पोषक सम्राटों का आधिपत्य हुआ, तब फ़ारसी और उर्दू के मुशायरों का प्रचलन तथा आदर बढ़ा। उस समय अपनी पुरानी परम्परा के साथ-साथ मुशायरों का प्रभाव भी हिन्दी कविसम्मेलनों की इस कविता ने ग्रहण किया। सारी रात चलनेवाले और समस्यापूर्तियों के वृत्त में घूमनेवाले कवि सम्मेलनों की भी धूम बहुत दिनों तक रही। समस्यापूर्ति-के संकीर्ण युग से निकलकर क्रमशः यह कंठ और कर्ण की कविता अब कुछ मुक्त गीतों के युग में आ पहुँची है।

बीच-बीच में यह सामन्तों के आश्रय में भी रहती रही, सम्पन्न व्यक्तियों के घरों के उत्सवों की शोभा भी बढ़ाती रही, पुत्रजन्म, विवाह, मुंडन आदि संस्कारों को भी अपनी मधुर स्वरलहरी से मुखरित करती रही और सभा-सम्मेलनों में भी मनोरंजन का महत्त्वपूर्ण और अमूल्य साधन बनी रही।

इस हलकी-फुलकी कविता ने कंठ से निकलकर कर्ण-मार्ग-से हृदय में पहुँचकर जनमानस में एक विशिष्ट प्रकार का

क्षणस्थायी स्पन्दन उत्पन्न करने के अपने कार्य में विशेष सफलता प्राप्त की। इसलिए, इसकी लोकप्रियता काफ़ी बढ़ी। किन्तु, संगठित होकर अपनी हितरक्षा करने में स्वभावतः असमर्थ कवि, इसके विशेषज्ञ होने पर भी, इससे विशेष आर्थिक लाभ न उठा सके। इधर कुछ दिनों से अवश्य कभी-कभी टिकिट लगाकर कवि-सम्मेलन करने और उसकी आय का अधिकांश भाग कवियों में बाँटने की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी है।

अभी तक यह लोक-प्रिय कविता अपनी स्वैर गति से चली। न तो राष्ट्र के सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रतिष्ठित नेता इसे अपनी इच्छा के अनुसार उचित मोड़ दे सके और न यह राष्ट्र की जीवनधारा को युग के उपयुक्त दिशा में मोड़ने में सफल हो सकी। यह विषमता का द्वन्द्व बहुत लम्बे समय तक चल चुका। समय ने यह सिद्ध कर दिया कि इस विशिष्ट काव्य-धारा को समाप्त नहीं किया जा सकता, भले ही देश-के अनेक मनीषी इससे असंतुष्ट रहे हों। अतः, अब यह उचित प्रतीत होता है कि इसे युग-युग से चली आ रही एक अनिवार्य सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में देश के सर्वोच्च आदर्शप्रवण मनीषी और विचारक भी सादर स्वीकार करें और इससे सम्मानपूर्ण समझौता करके इसे अपने उपयुक्त प्रतिष्ठित स्थान दिलाने का यत्न करें।

इस सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि जो साहित्य एक बार निर्मित होकर अनेक युगों तक जीवित रहता है, उसके निर्माण का माध्यम यह कविसम्मेलनी कविता प्रायः नहीं हो सकती। स्थायी साहित्य तो तुलसीदास-जैसे साधक ही लिख सकते हैं, भले ही वह उसे भोजपत्र पर

लिखें या काग़ज़ पर। ऐसा साहित्य तो उच्चादर्श, भावतादात्म्य, दीर्घ साधना, मौलिक और क्रांतिकारी प्रतिभा, गम्भीर चिन्तन, मनन और विचार के द्वारा ही उद्भूत होता है। उसके लिए प्रशंसा में तालियाँ पीटने वाले श्रोतृसमूह, सभा-सम्मेलन, राजदरबार या मंदिर-मठाधीशों की आवश्यकता नहीं होती। वह तो अनुभूति के लिए निरंतर, सक्रिय तथा गहन जनसम्पर्क एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण तथा रचना के लिए एकान्त कुटीर ही की अपेक्षा रखता है। ऐसे स्थायी साहित्य-का अपना अलग स्थान, उपयोगिता और महत्त्व है।

इससे विभिन्न, कविसम्मेलनी कविता का अपना पृथक् कार्यक्षेत्र, अलग महत्त्व और अलग उपयोगिता है। उसके प्रति ज़रा भी असम्मान की भावना रखना अन्याय करना होगा।

मौलिक कल्पनाशक्ति और साहस से काम लेने पर कविसंमेलनी गीतकविता के लिए जनकल्याण का नया क्षेत्र भी खोला जा सकता है।

इस प्रकार की कविता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न भाषाओं-की अपनी-अपनी परिपाटियाँ हैं। हिन्दी के कवि-सम्मेलन हिन्दी में जब कविसम्मेलन ही कहलाते रहे, तब मराठी-भाषाभाषियों ने स्पष्टता और साहस के साथ अपनी भाषा-में इनका नामकरण काव्यगायन कर दिया। यह नाम अधिक सार्थक प्रतीत होता है। हिन्दी कवि-सम्मेलनों का नामकरण भी गीतसम्मेलन किया जाना चाहिए, जो आधुनिक हिन्दी कविसम्मेलनों की अधिकांश प्रवृत्तियों का ठीक परिचायक समझा जा सकता है। बँगला-भाषा में कविता और

गान को बिलकुल अलग-अलग समझा जाता है तथा कविता-का पाठ किया जाता है और गान को गाया जाता है। दोनों-का मिश्रण नहीं किया जाता। गान को तब तक गाने का साहस नहीं किया जाता, जब तक संगीत पर भी अधिकार न हो।

प्रकृति यदि अपनी सम्पूर्ण उदारता से किसी कवि का सर्जन करना चाहे, तो उसे उसको शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से सुदर्शन बनाना चाहिए, उसे कोकिला का कंठ देना चाहिए, तानसेन का संगीतज्ञान देना चाहिए, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ-जैसी चिरकाल तक जीवित रहने वाले साहित्य के सर्जन की मौलिक प्रतिभा देनी चाहिए तथा इतनी अच्छी स्मरणशक्ति और अथक श्रमशीलता देनी चाहिए कि वह एक ही बैठक में अपनी सारी कविताओं को मुखाग्र सुना सके और अच्छी तरह गा-गाकर सुना सके। किन्तु, प्रकृति इतनी उदार नहीं है; वह किसी एक मानव को सम्पूर्ण क्षमताएँ प्रदान नहीं करती। अतः, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कवियों का न्यायपूर्ण कार्यविभाजन और क्षेत्रविभा-जन किया जाय।

उन कवियों को, जो प्रचुर परिमाण में अनेक युगों तक जीवित रहनेवाली कविताएँ लिख सकते हैं, अपने कार्य में अधिकाधिक सक्षम विशेषता प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। उन्हें अपने जनसम्पर्क की घनिष्ठता बढ़ाने के लिए लोकसेवा के कार्यों में अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश अर्पित करना चाहिए, प्रकृति-पर्यवेक्षण में भी अपना काफ़ी समय ख़र्च करना चाहिए और शेष समय में से अधिकांश जमकर साहित्यरचना करने में लगाना चाहिए। यदि वे कविसम्मेलनों के फेर में पड़कर उनमें अपना अधिक समय

तथा शक्ति लगायँगे, तो वे अपनी प्रकृतिदत्त क्षमता का उचित उपयोग न कर पायँगे।

कविसम्मेलनों के सुकंठ कवियों को अपने विशिष्ट कार्य-में अधिकतम विशेष क्षमता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन्हें डटकर संगीत की विशेष योग्यता प्राप्त करनी चाहिए तथा आवश्यक समझने पर निस्संकोच होकर अपनी रुचि-के किसी वाद्य का उपयोग भी अपने कवितागान के साथ करना चाहिए। उन्हें अपनी रीति-नीति तथा गतिविधि में समय-समय पर उचित परिवर्तन करने का साहस भी प्रकट करना चाहिए। बहुत-सी पुरानी रूढ़ियों से तो अब कवि-सम्मेलनों की कविता मुक्त हो ही चुकी है। अब उसमें युद्धरत सामन्तों के प्रोत्साहन की प्रवृत्ति नज़र नहीं आती, राजा-रईसों के लिए दिमाग़ी ऐयाशी की सामग्री जुटाना भी अब उसने बन्द कर दिया है, समस्यापूर्त्तियों के दिन भी अब उसके क्षेत्र से लद चुके हैं और अब वह जन्म, विवाह, मुंडन आदि के समारोहों की शोभावृद्धि का साधन भी नहीं रही है। इतना ही नहीं, उसने अब जो जनमन को छूनेवाली सुकंठ तथा मुक्त गीतधारा ग्रहण की है, उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नई दिशा में क्रांतिकारी सदुपयोग भी किया जा सकता है।

सिन्धी-भाषा के एक प्रतिष्ठित कवि ने इधर राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी कविताएँ लिखना शुरू कर दिया है। यह उन्होंने सम्भवतः इसलिए किया है कि वह अधिक बड़ी जनसंख्या तक अपनी रचनाएँ पहुँचाना चाहते हैं। प्रकृति द्वारा प्रदत्त मधुर कंठ की अपनी विभूति का भी उन्होंने इस कार्य में सदुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। वह अपनी कविताओं को गा-गा-कर सुनाते हैं। खंजरी-जैसे एक लोकवाद्य का भी वह

अपने काव्यगान के साथ उपयोग करते हैं, जिससे उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। पिछले कुछ दिनों वह आचार्य विनोबा भावे के साथ भ्रमण करते रहे थे और ग्रामीण जनता पर उनका काव्यगान जादू का-सा असर करता था।

हिन्दी के अनेक कविसम्मेलनप्रिय कवियों को प्रकृति ने कंठ की मधुरता का यह जादू उदार होकर प्रदान किया है। उनकी स्थायी साहित्य के अंतर्राष्ट्रीय मापदंड की दृष्टि से साधारण समझी जाने वाली कविताएँ भी जब कवि-सम्मेलनों-में सहस्रों की संख्या में एकत्र श्रोताओं में उनके मधुर कंठ के सहारे गूँजती हैं, तब वातावरण में एक अद्भुत तथा स्पृहणीय मंत्र-मुग्धता छा जाती है। उनकी इस महान् शक्ति का जनता-के अधिक व्यापक हित में उचित उपयोग क्यों नहीं किया जाना चाहिए ?

भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में बसती है। हिन्दी-भाषी अथवा हिन्दी समझ सकने वाले क्षेत्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। यदि उक्त क्षेत्रों की ग्रामीण जनता-की ओर कविसम्मेलनों के इन कवियों में से कुछ को, कंठ और कर्ण की कविता के कुछ विशेषज्ञों को, उचित वेग के साथ, मोड़ दिया जाय, तो सांस्कृतिक दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। किन्तु, इन लोगों को नगरों के मोह से मुक्त कराना आसान काम सिद्ध न होगा।

ग्रामीण जनता की धार्मिक प्रवृत्ति आज भी गाँवों में जाकर रामायण, भागवत या महाभारत की कथा कहनेवाले कथावाचकों का बड़ा आदर करती है तथा उन्हें आर्थिक दृष्टि से भी संतुष्ट करने का यत्न करती है। इनमें से बहुत से कथावाचक आजकल भोली-भाली ग्रामीण जनता का शोषण

भी करने लगे हैं। उनके शोषण से जनता को बचाने के लिए भी उनका कोई स्वस्थ विकल्प प्रस्तुत करना पड़ेगा। समय आ गया है कि ग्रामीण जनता में अभिनव सांस्कृतिक प्रवृत्ति पैदा हो। उसमें नवजीवन, नवजागरण तथा राष्ट्र-निर्माण की नवचेतना की भावनाएँ उत्पन्न और विकसित हों। इनके अभाव में हमारा नवोदित लोकतंत्र तथा लोकतंत्र द्वारा उद्भूत नई संस्कृति जीवन और प्रगति प्राप्त नहीं कर सकती। जब हमारी संस्कृति ही जीवित न रहेगी, तब हमारे साहित्य-का उपयोग कौन करेगा? हमारा राष्ट्र जीवित कैसे रहेगा?

कविसम्मेलनों के सुकंठ कवियों से साग्रह प्रार्थना की जानी चाहिए कि वे ग्रामीणों के सांस्कृतिक जीवन के पुनर्निर्माण-के कार्य में सक्रिय सहयोग करें। बहुसंख्यक ग्रामीण जनता में नवचेतना जाग्रत करने का काम कविसम्मेलनों के सुकंठ कवि यदि अपने हाथ में ले लें, तो न केवल जनता के, बल्कि कवियों के जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है।

ऐसे कवियों द्वारा शहरों के गंदे और गलाघोंटू वातावरण में आर्थिक अभावों की पीड़ा धूम्र-पान, सड़कों पर मटरगश्ती या संस्कृतिशून्य सिनेमाफ़िल्मों के दर्शन से नहीं भुलाई जा सकती। मधुर कंठ के सहारे मधुरतर बनकर कवि-सम्मेलनों में दाद दिलानेवाली अनेक कविताएँ जब सामयिक पत्रों या पुस्तकों में छपकर पाठकों के सामने आती हैं, तब विचारपूर्वक पढ़ने पर अनेक बार वे हवा निकले हुए ग़ुब्बारों के समान लगने लगती हैं। फलतः, प्रकाशकों द्वारा उनके बदले इतना भी पारिश्रमिक नहीं दिया जाता, जिससे उनके कवियों का जीविका-निर्वाह हो सके। ग्रामों की जनता निस्सन्देह इतनी कृतघ्न नहीं है। वह बहुत भावुक और

उदार है। वह कथाश्रवणमात्र पर प्रसन्न होकर आज कथावाचकों को जितना संतुष्ट करती है, क्रमशः शनैः-शनैः रुचिपरिवर्तन किए जाने पर, सुकंठ कवियों के कवितागान-पर उन्हें उससे कहीं अधिक ही संतुष्ट कर सकेगी। उससे जनता का शोषण न होकर राष्ट्र का पुनर्निर्माण होगा और उन कवियों में भी उचित आर्थिक स्तर की उपलब्धि के कारण स्वस्थ स्वाभिमान का अभ्युदय होगा।

कलकत्ते में कुछ कवियों ने एक बार कुछ मौलिकता तथा साहस का परिचय दिया था, जब उन्होंने वहाँ की सड़कों-पर पोस्टर लेकर प्रदर्शन निकालते हुए जनता से ख़रीद-ख़रीदकर अधिक कविता-संग्रह पढ़ने की प्रार्थना की थी तथा नगर के चौराहे-चौराहे पर कविता-पाठ का आयोजन किया था। किन्तु, शहर तक ही सीमित रह जाने के कारण उस मौलिकता तथा साहस का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। यदि सुकंठ कवि ग्राम-निवास की असुविधाएँ सहन कर सकें, ग्रामों की ओर अपने कवितागान के आयोजनों को तेज़ी से मोड़ दें और सरल भाषा में हलके-फुलके गीतों द्वारा अशिक्षित ग्रामीण जनता को सांस्कृतिक तथा सामाजिक नवचेतना का क्रांतिकारी सन्देश देने लगें, तो न केवल वे जनजागरण का महान् लक्ष्यसाधन ही करें, बल्कि, अतिथि-प्रिय ग्रामीण जनता से धीरे-धीरे पुराने कथावाचकों से कहीं अधिक आर्थिक पारिश्रमिक पाकर अपनी आर्थिक अवस्था भी सुधार सकें। प्रश्न केवल रूढ़ि, संकोच तथा संकीर्णता छोड़कर साहस, प्रगतिशीलता और मौलिक सूझ-बूझ से काम लेने का है।

साहित्यकार का मूल्यांकन

संसार साहित्यकार का उचित मूल्यांकन तभी कर सकता है, जब वह अपना उचित मूल्यांकन स्वयं भी करे। मूल्यांकन का अर्थ अपने और अपनी कला के साथ न्याय करना है, अपने अहंकार का पोषण नहीं। जहाँ अहंकार साहित्यकार की साधना के लिए विषतुल्य है, वहाँ आत्म-हीनता की भावना भी उसके पतन का कारण है। इन दोनों-से बचकर ही वह साहित्य-निर्माण की साधना के पथ पर बढ़ सकता है।

आज का युग विशेषज्ञों का युग है। प्रत्येक क्षेत्र में उचित प्रगति करने के लिए विशेष साधना की आवश्यकता होती है। इसके लिए पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता होती है, जो जीवनार्पण चाहता है।

साहित्यसर्जन के कार्य को जीवनार्पण किए बिना साहित्यकार विश्वपरिमाणों को संतुष्ट कर सकने योग्य साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता और ऐसा किए बिना वह और उसका साहित्य अंततः अत्यन्त क्षणजीवी सिद्ध होता है।

काल और क्षेत्र की परिधि को लाँघकर जिन साहित्य-कारों का साहित्य अभी तक जीवित रहता आया है, वे सब जीवनदानी थे। उन्होंने साहित्य-निर्माण के कार्य को अपना

सम्पूर्ण जीवन, पूरी निष्ठा और तादात्म्य के साथ, अर्पित किया था।

उनमें जो संन्यासी थे, उनके सामने जीवनधारण करने-के लिए संघर्ष करने की समस्या न थी। समाज उनका सम्पूर्ण आर्थिक भार, जो अधिक नहीं होता था, स्वेच्छा, सम्मान और श्रद्धा से वहन करता था। जो गृहस्थ थे, उनका साहित्य-सर्जनतादात्म्य उन्हें विवश करता था कि वे अर्थाभाव की चक्की में पिसते हुए भी, अपना गृहस्थजीवन नरकतुल्य बनाए रहते हुए भी, साहित्यसर्जन के मोर्चे पर डटे रहें।

मुद्रण के आविष्कार ने दूसरे प्रकार के साहित्यकारों-को अपनी इस आर्थिक विवशता से काफ़ी मुक्त करने की परिस्थिति बना दी है। वर्तमान युग में उनके पाठक थोड़ा-थोड़ा अंशदान करके नियमित साहित्यक्रय द्वारा उन्हें जीवन-निर्वाह के अर्थसंघर्ष से आसानी से मुक्त कर दे सकते हैं और वे पूर्ण तादात्म्य के साथ साहित्यसर्जन कर सकते हैं।

समाज यदि अपने राजनीतिक तथा भौतिक विकास में अधिक दिलचस्पी लेता है, तो राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों-का आर्थिक तथा सामाजिक स्तर उन्नत होता है और यदि वह हार्दिक, आत्मिक, नैतिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए अधिक त्याग करने को तैयार होता है, तो साहित्यकार तथा कलाकार आर्थिक और सामाजिक दृष्टि-से ऊँचा उठता है।

उक्त दोनों प्रकारों के विकासों की ओर समानरूप से ध्यान देने पर ही आज के विश्वादर्श के अनुसार कोई राष्ट्र उन्नत माना जा सकता है।

स्वतंत्र होने के बाद भारत पर यह उत्तरदायित्व आ गया है कि वह अपने को दोनों दृष्टियों से इतना ऊँचा उठावे कि संसार के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में न केवल उसकी गिनती ही हो, बल्कि, उसके नैतिक प्रभाव का उचित उपयोग विश्वशांति-की स्थापना तथा रक्षा के सम्बन्ध में भी हो सके।

खेद है कि भारत के वर्तमान सत्ताधारियों का अपेक्षाकृत अधिक ध्यान इस समय इस देश के भौतिक विकास ही के प्रश्न की ओर है; वे उसे हार्दिक, आत्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से उन्नत बनाने की ओर अभी यथेष्ट सचेष्ट नज़र नहीं आते। उनके आयव्ययकों में देश के सांस्कृतिक विकास और साहित्यिक उन्नति के लिए उचित धनराशि की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। चूँकि धनराशि का यह विषम विनियोग जनता के कर ही से हो रहा है, अतः, जनसेवियों के नाते, साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस विषमता के विरुद्ध, पूरी शक्ति के साथ, अपनी आवाज़ उठावें।

स्वतंत्र भारत में भी अभी तक साहित्यकारों का उचित मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है, यह एक अत्यंत लज्जाजनक बात है और इसके उत्तरदायित्व से देश के सर्वोच्च सत्ता-धारियों से लेकर अत्यंत सामान्य व्यक्ति तक भी नहीं बच सकते। स्वयं साहित्यकारों का समावेश भी इन्हींमें होता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, जो आज के सत्ताधारियों के प्रेरणास्रोत माने जाते थे, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को सम्मानपूर्वक 'गुरुदेव' कहते और मानते थे, इसलिए नहीं कि वह उनसे उम्र में बड़े थे, बल्कि, इसलिए कि वह भारत-की साहित्यिक उन्नति के प्रतीक थे और बापू की नज़रों में

साहित्यिक उन्नति का मूल्य राजनीतिक उन्नति से कम नहीं था। यह राजनीति के द्वारा साहित्य का उचित तथा न्याय-पूर्ण मूल्यांकन था।

यदि इस दृष्टि को स्वतंत्र भारत में उचित रूप में विकसित किया जाता, तो कविवर रवीन्द्रनाथ की परम्परा को आगे बढ़ाने का यत्न करनेवाले इस देश के साहित्यकार राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त कर सकते थे।

बापू का दृष्टिकोण तो साहित्य के सम्बन्ध में सम्मानपूर्ण था ही, आज के युग के एक सुप्रसिद्ध, प्रगतिशील, मनीषी राजनीतिज्ञ आचार्य नरेन्द्रदेव का दृष्टिकोण भी साहित्य-के प्रति अत्यंत आदरपूर्ण है। आचार्यजी ने काशी में निरालाजी के सम्मान में दिए गए अपने एक भाषण में एक बार कहा था कि "यदि राजनीति से साहित्य, दर्शन, कला और संस्कृति की तुलना की जाय, तो जीवन में साहित्य, दर्शन, कला और संस्कृति का स्थान अधिक ऊँचा सिद्ध होगा।" उन्होंने हाल में बिहारराष्ट्रभाषा-परिषद् में दिए गए अपने एक भाषण में भी यह कहा था कि "सारे एशिया की जनता-के लिए एक नए स्वतंत्र युग का आरम्भ हो गया है और इस युग में हम जितने ही अधिक सच्चे साहित्यस्रष्टा और ऊँचे कलाकार उत्पन्न कर सकेंगे, उतना ही अधिक महत्त्व हमारे साहित्य और संस्कृति को प्राप्त होगा।"

साहित्यकार के उपर्युक्त मूल्यांकन को यदि देश में शीघ्र ही प्रतिष्ठित नहीं किया गया, तो देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नति रुक जायगी और अपने कोरे भौतिक विकास को लेकर यह राष्ट्र अपनी जड़ों में बिलकुल खोखला होता जायगा।

राष्ट्र को इस विनाश से बचाने की ओर यदि शासन पूर्णतया प्रयत्नशील न हो, तो यह जनता का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इसके लिए स्वतंत्र रूप से सचेष्ट हो। जनता-का कर्त्तव्य है कि वह साहित्यकार का उचित मूल्यांकन करे और उसे समाज में उचित महत्त्व तथा सम्मान का स्थान दे। इसके लिए कोरी मौखिक सहानुभूति पर्याप्त न होगी, इसका सबसे अधिक प्रभावशील उपाय यही हो सकता है कि जनता अपने जीवन में साहित्य को भी वही अनिवार्य महत्त्व-पूर्ण स्थान दे, जो वह अपने रोटी-कपड़े को देती है और उसके लिए अपनी ग़रीबी में से भी अपना उचित अंशदान करे।

सत्साहित्य को नियमित रूप से ख़रीदकर पढ़ने की जनता की प्रवृत्ति से साहित्यकार की आर्थिक स्थिति अपने-आप सुधर जायगी, वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को पूरे तादात्म्य के साथ साहित्यसर्जन में लगा सकेगा और आर्थिक अभाव के कारण अपना साहित्यिक ईमान बेचने या अपने साहित्य का स्तर गिराने को बाध्य न होगा।

पूर्ण स्वतंत्रता और पूरी एकाग्रता के साथ लिखा गया साहित्य ही इस देश को विश्व की उच्चतम सांस्कृतिक सतह तक पहुँचाने में समर्थ होगा और तभी वह गतिरोध दूर होगा, जो आज हमारे साहित्य में आ गया है। इसीसे वह विषमता दूर होगी, जिसके चलते आज हमारे राष्ट्र-के जीवन पर केवल राजनीति का प्रभुत्व फैलता चला जा रहा है और साहित्य किसी हद तक या तो हीनता और लज्जा के आवरण में एक कोने में सिकुड़ा हुआ खड़ा है या राजनीति का पिछलग्गू बना हुआ है।

सत्साहित्य का प्रमाणीकरण

राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकने के बाद हिन्दी भाषा का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। उसपर अब यह भार आ पड़ा है कि वह लगभग छत्तीस करोड़ भारतवासियों के मन, हृदय और आत्मा के लिए उचित सांस्कृतिक आहार प्रस्तुत करे और उन्हें उचित जीवनप्रेरणा दे। इतना ही नहीं, उसे अपने माध्यम के द्वारा सारे संसार के सामने अब ऐसा साहित्य रखना होगा, जो अनूदित होने पर प्रत्येक दृष्टि से भारत-जैसे एक स्वतंत्र तथा सुसंस्कृत जनराज्य की प्रतिष्ठा के अनुरूप सिद्ध हो सके।

क्या हिंदी भाषा और उसके साहित्य द्वारा इस नए सांस्कृतिक उत्तरदायित्व के वहन किए जाने के प्रति इस देश-की जनता, साहित्यकार और शासन सजग हैं? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

पूँजीवाद की प्रतिष्ठा के विगत युग में स्वच्छंद व्यापार-का सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र में एक मान्य सिद्धान्त था। नए मानवमूल्यों के आज के परिवर्तित युग में उस सिद्धान्त पर किसी भी श्रेष्ठ विचारक की आस्था नहीं रह गई है। आर्थिक क्षेत्र की भाँति ही साहित्यिक क्षेत्र में भी अनियंत्रित तथा स्वच्छंद व्यापार का सिद्धान्त अब पुराना पड़ चला है। उसका स्थान कतिपय अधिनायकतंत्रवादी देशों में विचारों-

के बद्धीकरण ने ग्रहण कर लिया है। वह भी स्वस्थ स्थिति नहीं है। लोकतांत्रिक देशों में विचारों की पूर्ण स्वतंत्रता को जहाँ अभयदान दिए जाने की आवश्यकता है, वहाँ जन-हितकारी साहित्य को प्रश्रय देने के लिए निकृष्ट तथा कुरुचिपूर्ण साहित्य के मुक्त व्यापार पर उचित प्रतिबन्ध लगाए जाने की भी आवश्यकता है।

अस्वस्थ, कुरुचिपूर्ण तथा निकृष्ट साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाने का रचनात्मक तरीक़ा यह हो सकता है कि स्वस्थ, सुरुचिपूर्ण तथा श्रेष्ठ कोटि के साहित्य को जनता तथा लोक-तांत्रिक शासन द्वारा अधिक से अधिक सक्रिय प्रोत्साहन प्राप्त हो। इस विधि का अनुसरण अनभीष्ट कोटि के साहित्य-को अपनी मौत आप मरने के लिए छोड़ देगा।

जनता के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तो यह है कि उसे विशुद्ध गाय का दूध, फल, शाक आदि जैसे खाद्य-पदार्थ प्रचुर परिमाण में मिल सकें, किन्तु, जनता की रुचि तेज़ तथा अस्वास्थ्यकर मिर्च-मसालों की चाटें, मिठाइयाँ आदि खाने की होती है। ऐसी दशा में जनहितकारी शासन-का यह कर्त्तव्य होता है कि वह जनता को अस्वास्थ्यकर आहार से बचाने के लिए स्वास्थ्यकर आहार ग्रहण करने-की प्रबल तथा रचनात्मक प्रेरणा दे, ऐसे आहार की शुद्धता-का प्रमाणीकरण करने के लिए भ्रष्टाचारमुक्त अधिकारी नियुक्त करे और उक्त शुद्ध आहार के वास्तविक उत्पादकों को मध्यस्थों के शोषण से बचाने का प्रबन्ध करे, जिससे वे स्वास्थ्यकर खाद्यपदार्थों के अधिकतम उत्पादन की ओर उचित रूप में प्रोत्साहित हो सकें।

जनरुचि की दुर्बलता के प्रवाह में न बहकर मानसिक,

हार्दिक और आत्मिक स्वास्थ्य के लिए हितकर साहित्य जनता में प्रसारित करना भी शासन का उतना ही महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, जितना शुद्ध एवं स्वास्थ्यकर शारीरिक आहार की व्यवस्था करना।

साहित्य के निर्माण का संकीर्ण राष्ट्रीयीकरण करके शासन यदि समस्त साहित्यकारों को अपना वेतनभोगी नौकर बना लेगा, तो विचारस्वातंत्र्य का विनाश हो जायगा, साहित्य की मौलिकता पर आघात पहुँचेगा और उसकी उच्च कोटि की रचा न की जा सकेगी। इसलिए, यह उचित होगा कि जनता के समुचित सांस्कृतिक विकास के लिए साहित्य-निर्माताओं को पूर्ण स्वतंत्र रहकर आत्मप्रेरणा के अनुसार मौलिक तथा उच्च कोटि का साहित्य निर्माण करने दिया जाय।

साहित्य के प्रकाशन का राष्ट्रीयीकरण उचित क़दम हो सकता है, किन्तु, वर्तमान स्थिति में वह इसलिए तात्कालिक रूप में व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता कि शासन अन्न, वस्त्र आदि के उत्पादन, वितरण, व्यवसाय आदि का भी अभी तक राष्ट्रीयीकरण नहीं कर पाया है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन-व्यवसाय के राष्ट्रीयीकरण के लिए तो शासन धन के अभाव का कारण बता ही सकता है।

घासलेट घी के सस्तेपन, उसके व्यापक प्रसार, कुछ राज्यों के शुद्धघृतप्रमाणीकरणविभागों में सम्भावित भ्रष्टाचार-प्रवेश आदि के कारण जिस प्रकार उन राज्यों की ओर से शुद्ध घी के प्रमाणीकरण का कार्य अनेक स्थानों पर अच्छी तरह नहीं चल पा रहा है, उसी तरह उचित कोटि के जनहितकर साहित्य के प्रमाणीकरण का कार्य भी कठिन अवश्य

५

प्रतीत होता है। फिर भी, यह उचित प्रतीत होता है कि शासकीय स्तर पर इसका प्रयोग अवश्य किया जाय।

जिस प्रकार अधिक-अन्न-उत्पादन-आन्दोलन का उचित केन्द्रविन्दु एक ओर जनता और उसका जीवन एवं स्वास्थ्य हो सकता है तथा दूसरी ओर अन्न-उत्पादक किसान, उसी प्रकार अधिक-सत्साहित्य-सर्जन-आन्दोलन का केन्द्रविन्दु एक ओर जनता और दूसरी ओर साहित्यकार हों। सत्साहित्य का प्रमाणीकरण इसका प्रेरक आधार होना चाहिए।

शासन को ऐसे निष्पक्ष तथा ईमानदार विद्वानों की समितियाँ स्थापित करनी चाहिए, जो स्वयं साहित्य-रचना-का कार्य तो न करते हों, किन्तु, साहित्य के वास्तविक और पूर्ण मर्मज्ञ हों। उन्हें इस कार्य के लिए उचित आर्थिक पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए कि वे समय-समय पर प्रकाशित होनेवाली हिन्दी की पुस्तकों को पढ़कर उनका कोटि-निर्धारण करें तथा उन्हें प्रमाणित करें। शासन का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह जनता को यह प्रेरणा दे कि वह इन विद्वत्समितियों द्वारा प्रमाणित पुस्तकों में से अपने लिए पुस्तकें चुने। शासन से आर्थिक सहायता पाने वाले पुस्तकालयों, विद्यालयों आदि को भी इस प्रकार प्रमाणित की जानेवाली पुस्तकों में से अपने लिए पुस्तकें चुनने का परामर्श दिया जाना चहिए। ऐसी सहायताप्राप्त संस्थाओं की संख्या इतनी अधिक होनी चाहिए कि वे अच्छी पुस्तकें पर्याप्त संख्या-में ख़रीद सकें।

इस प्रकार प्रमाणित की गई पुस्तकों में से किसीका लेखक यदि प्रमाणित करनेवाली विद्वत्समिति को यह लिखित

सूचना दे कि उसका प्रकाशक उसके सम्बन्ध में लेखक के हित की स्वीकृत शर्तों का यथोचित रूप में पालन नहीं कर रहा है, तो उक्त समिति द्वारा उसके प्रमाणीकरण के निरस्त किए जाने की सूचना तत्काल प्रकाशित कर दी जानी चाहिए। किसी भी पुस्तक को तब तक प्रमाणित नहीं किया जाना चाहिए, जब तक उसका लेखक यह लिखित सूचना न भेजे कि उसका कॉपीराइट लेखक के अधीन है और प्रकाशक को रॉयल्टी पर प्रकाशन का अधिकार केवल निर्धारित समय की अवधि ही के लिए दिया गया है। इस प्रकार के निर्धारित समय की अवधि सात वर्ष से अधिक की किसी भी दशा में न होनी चाहिए और उक्त अवधि के बाद पुनर्विचार का पूर्ण अधिकार लेखक को होना चाहिए।

यदि बीच के समय में लेखक की ओर से कोई शिकायत न भी आय, तो भी प्रमाणीकरण-समिति को हर चौथे साल प्रत्येक पुस्तक के प्रमाणीकरण पर पुनर्विचार करना चाहिए और लेखक द्वारा नए सिरे से संतोष का लिखित घोषणा-पत्र प्राप्त होने पर प्रमाणीकरण को दुहराना चाहिए। समिति के द्वारा रॉयल्टी की न्यूनतम दर भी निर्धारित कर दी जानी चाहिए और उससे कम देनेवाले प्रकाशक की पुस्तक प्रमाणित न की जानी चाहिए। इससे लेखक प्रकाशकों के शोषण से बचे रहकर लोक-हितकर एवं उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण कर सकेंगे और उच्चकोटि के साहित्य के प्रकाशक हीन कोटि के साहित्य के प्रकाशकों की अपेक्षा अधिक लाभ उठा सकेंगे।

यदि उचित ढंग से काम किया जाय, तो धीरे-धीरे जनता, पुस्तकालयों, विद्यालयों आदि का ऐसी प्रमाणीकरण-

समितियों पर विश्वास बढ़ता जायगा और एक समय ऐसा आयगा कि उनके द्वारा प्रमाणित पुस्तकों की खपत बहुत बढ़ जायगी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि हिन्दी में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें उसके राष्ट्र-भाषा होने के गौरव को बढ़ानेवाली सिद्ध होने लगेंगी और हिन्दी के सत्साहित्य के निर्माताओं और प्रकाशकों को भी विश्व की अन्य उन्नत भाषाओं के समकक्ष लाभ होने लगेगा।

प्रारम्भ में इन प्रमाणीकरण-समितियों को हस्तलिखित पुस्तकों को भी प्रमाणित करने की व्यवस्था करनी होगी, क्योंकि इस समय स्थिति ऐसी है कि कुछ साधनहीन किन्तु प्रतिभाशाली लेखकों द्वारा लिखी गई कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशन का मुख देखने से वंचित रह जाती हैं, जो यदि प्रकाशित हो जातीं, तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव को बढ़ानेवाली सिद्ध होतीं।

हमारा राष्ट्र शारीरिक दृष्टि से भूखों मर जायगा, यदि हम, आवश्यकता के अनुरूप, अधिक-अन्न-उत्पादन-आंदोलन को वास्तविक रूप में तथा पूर्ण वेग से न चलाएँगे। उसी प्रकार हमारे देश की जनता मानसिक, हार्दिक, आत्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बुभुक्षित, दुर्बल, अविकसित तथा अस्वस्थ बनी रहेगी, यदि हमारा राष्ट्र उच्चकोटि के, जनहितकर तथा लोकोपयोगी साहित्य के अधिकतम उत्पादन तथा उसकी उचित खपत की सुयोजित व्यवस्था अविलम्ब न करेगा। ऐसी किसी भी व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि उसमें निर्माता का सबसे अधिक ध्यान न रखा जाय। किसान को उपेक्षित और शोषित छोड़कर आगे बढ़नेवाली अन्न-उत्पादन-योजना जिस प्रकार निरर्थक समझी

जाती है, उसी प्रकार निर्माता साहित्यकार को वंचित और शोषित रहने देकर आगे बढ़नेवाली साहित्य के निर्माण और प्रसार की कोई योजना सार्थक न हो सकेगी।

मानवता की पिछली पीढ़ियों के समस्त श्रेष्ठ साहित्यकारों-की उच्चकोटि की रचनाएँ ख़रीदकर पढ़ने की क्षमता तथा अपने समकालीन साहित्य तथा जनजीवन से निकटतम तथा वास्तविक सम्पर्क स्थापित रख सकने के साधन यदि आज के साहित्यकार को प्राप्त न हों, तो वह राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुरूप साहित्य का सर्जन नहीं कर सकता। अपने तथा अपने परिवार के उचित जीवन-निर्वाह के साधनों से वंचित साहित्यकार भी उचित प्रकार के साहित्य का निर्माण न कर सकेगा। उसके पार्थिव जीवन का दैन्य उसके आन्तरिक दैन्य का कारण बनेगा और दैन्यपीड़ित साहित्यकार की सृष्टि समाजस्वास्थ्य के लिए निरुपयोगी होगी।

अपने जीवनयापन के लिए दूसरे कार्यों पर निर्भर रहने-वाला साहित्यकार यदि केवल अवकाश के क्षणों ही में दिमाग़ी ऐयाशी के रूप में नगण्य साहित्य का निर्माण करेगा, तो उसमें वह तन्मयता, साधना, प्रवाह, शक्ति और वेग उत्पन्न न हो सकेगा, जो राष्ट्र की जीवनधारा को मोड़ सके। अतः, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वास्तविक साहित्य-कार को अपने तथा अपने परिवार के जीवननिर्वाह, अपने जनजीवनसम्पर्कलाभ तथा साहित्य-निर्माण के समस्त साधन केवल अपने साहित्य ही से प्राप्त होने चाहिए। यह तब तक सम्भव नहीं, जब तक उसके द्वारा निर्मित सत्साहित्य-की उचित खपत की कोई सुयोजित व्यवस्था राष्ट्रीय स्तर-पर न की जाय।

यदि शासन द्वारा स्थापित प्रामाणिक, सुयोग्य तथा निष्पक्ष विद्वत्समितियाँ सत्साहित्य के प्रमाणीकरण का कार्य पूर्ण उत्साह तथा कठोरतम ईमानदारी के साथ करें, शासन उक्त समितियों द्वारा प्रमाणित साहित्य को अपनी पूरी शक्ति-के साथ तथा अधिक से अधिक परिमाण में प्रसारित कराने-का प्रयत्न करे, तो शीघ्र ही जनता में उच्च कोटि के सत्साहित्य-की इतनी खपत होने लगे कि उचित प्रकार के साहित्य-निर्माताओं के जीवन और साहित्य का स्तर काफ़ी उन्नत हो जाय और उसका प्रभाव उनके द्वारा निर्मित साहित्य की कोटि पर भी पड़े।

यदि प्रकाशक सत्साहित्य के प्रकाशन में उचित प्रकार के लेखकों के साथ सहयोग करें, तब तो उनका अस्तित्व भी रह सकता है। अन्यथा, छात्र-छात्राओं के लिए स्वीकृत पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयीकरण तो शासन क्रमशः कर ही रहा है, अन्य पुस्तकों के प्रकाशन के क्षेत्र में भी साहित्यकारों की सहकारी प्रकाशनसंस्थाओं का अभ्युदय उन्हें अपदस्थ किए बिना न रहेगा।

जो प्रकाशक अधिक से अधिक धन कमाने के एकमात्र उद्देश्य से प्रकाशन का व्यवसाय कर रहे हैं और अपनी पुरानी मनोवृत्ति किसी भी दशा में ज़रा भी बदलने को तैयार नहीं हैं, उनके लिए तो दूसरे मार्ग भी खुले हुए हैं। यदि उन्हें धन ही उत्पन्न करना है, तो, वह तो वे घासलेट घी का व्यापार करके भी कर सकते हैं। किन्तु, जिन प्रकाशकों के सामने व्यवसाय के अतिरिक्त सत्साहित्य के प्रकाशन का भी लक्ष्य है, वे राष्ट्रभाषा की गौरववृद्धि में पूर्ण योगदान कर सकते हैं, बशर्ते कि वे यह प्रण कर लें कि यदि शासन ऐसी

निष्पक्ष एवं सुयोग्य प्रमाणीकरण-समितियों की स्थापना करेगा, तो वे उनके द्वारा प्रमाणित पुस्तकों के प्रकाशन को प्राथमिकता देंगे। पतनोन्मुख तथा निकृष्ट लोकरुचि के आधार-पर जीना चाहनेवाले लेखकों को तो किसी प्रकाशक के सहयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं है, वे तो जनमन की दुर्बलताओं के आधार पर खूब बिकनेवाला अपना साहित्य स्वयं ही छापकर बेच लेंगे। अस्वास्थ्यकर तथा तेज़ मिर्च-मसालों की चटपटी चाट बनानेवाला अपनी चाट खुद ही बेच ले सकता है, उसे किसी प्रामाणिक मध्यस्थ की आवश्य-कता नहीं। सत्साहित्य के प्रमाणीकरण की व्यवस्था की आवश्यकता तो उन लेखकों और प्रकाशकों के लिए है, जो उत्थानोन्मुख तथा उत्कृष्ट लोकरुचि के आधार पर जीना चाहते और ऐसी लोकरुचि को जनस्वास्थ्य, राष्ट्रनिर्माण तथा देश के सांस्कृतिक विकास के दृष्टिकोण से उत्पन्न, विक-सित और प्रेरित करना चाहते हैं।

राष्ट्रभाषा की समस्या

राष्ट्रभाषा की समस्या भारत राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन-की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। वह सैद्धांतिक भी है और व्यावहारिक भी।

जहाँ तक उसके सैद्धांतिक पक्ष का प्रश्न है, वह अधिकांश-में हल हो चुका है। राष्ट्र की लोकसभा ने सैद्धांतिक रूप-में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है।

व्यावहारिक स्थिति यह है कि हिन्दी अपनी स्वीकृति के पन्द्रह वर्ष बाद राष्ट्रभाषा का स्थान पानेवाली है और पन्द्रह वर्ष बाद भी उसके अंकों का स्वरूप अभारतीय ही रहने-वाला है। जहाँ तक लिपिका प्रश्न है, वह देवनागरी ही रहनेवाली है, किन्तु, भाषा का स्वरूप अभी भविष्य के गर्भ में होने के कारण अस्पष्ट एवं अनिश्चित है।

जहाँ हम इस विषय में अभी अस्पष्टता में उलझे हुए हैं, दूसरे राष्ट्रों की नीति स्पष्ट है। उस दिन हमें अपने नगर के एक सामायिक पत्र के नाम आया हुआ चीनी गणतंत्र के दिल्ली-स्थित भारतीय राजदूतावास का एक पत्र देखने को मिला। पत्र के ऊपर प्रथम पंक्ति में चीनी भाषा में दूतावास-का नाम छपा था और उसके नीचे की पंक्तियों में अँगरेज़ी में।

इस प्रकार भारत में चीनी भाषा को प्रथम स्थान दिए जाने से यह प्रकट होता है कि चीनी लोग विदेशों में भी

अपनी राष्ट्रभाषा को प्रथम गौरव देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और अँगरेज़ी को द्वितीय स्थान मिलने से यह सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में भारत की व्यावहारिक राष्ट्रभाषा अभी अँगरेज़ी ही है, सैद्धांतिक रूप में चाहे जो हो। व्यावहारिक तथ्य भी आज यही है कि हिन्दी में छपा हुआ नाम भारत के प्रत्येक राज्य में नहीं पढ़ा जा सकता और अँगरेज़ी में लिखा होने पर शिक्षित वर्ग में या तो उसे पढ़ा जा सकता है या पढ़वाया जा सकता है।

यह अनुभव करके भारत-स्थित चीनी कूटनीतिक कार्यालय के कार्यकर्ताओं के मन में क्या यह प्रश्न उत्पन्न न होता होगा कि क्या भारत की कोई ऐसी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती, जिसका उद्‌गम इसी देश का हो और क्या उस राष्ट्र की कोई संस्कृति भी हो सकती है, जिसकी अपनी राष्ट्र-भाषा न हो?

कुछ समय पूर्व हमने यह भी सुना था कि रूस के सामने भारतीय आदर्श रखने के लिए उच्च स्तर के राजनीतिक पत्रों आदि पर रूस-स्थित भारतीय राजदूतावास के अधिकारियों को हिन्दी-भाषा में हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, भले ही उनके स्वदेश भारत में कुछ भी होता हो।

रूस और चीन की स्थिति को अपनी आँखों से देख आनेवाले अनेक निष्पक्ष एवं प्रसिद्ध भारतीयों ने अन्य अनेक बातों के साथ-साथ उनकी अपनी भाषा, वेश-भूषा और सांस्कृतिक विशेषता की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

राजनीतिक प्रचार की बाढ़ के इस युग में विदेशों की प्रशंसा में कही गई प्रत्येक बात पर विश्वास कर लेना भी

उतना ही खतरनाक है, जितना उनके प्रति द्वेष से पूर्ण निन्दा-पर विश्वास कर लेना। किन्तु, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भारत से ऐतिहासिक गौरव की दृष्टि से बड़े राष्ट्र न होने पर भी सांस्कृतिक स्वाभिमान की दृष्टि से रूस, चीन आदि आज अधिक उन्नत हैं। उनकी भौतिक उन्नति के प्रश्न-पर यहाँ विचार नहीं करना है।

भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र की यह अंतर्राष्ट्रीय आत्म-ग्लानि देश और विदेश में स्वाभिमानी भारतवासियों को अवश्य अखरती होगी। उन्हें यह अनुभव करके बहुत खेद होता होगा कि भारत के अनेक प्रसिद्ध नागरिक अन्य देशों के निवासियों से व्यवहार करने में एक ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जो विदेशी होने के साथ-साथ इस देश को वर्षों तक दास बनाए रहने वाले लोगों की भाषा होने के कारण ही इस देश में प्रतिष्ठित हो सकी है। इससे भी अधिक खेद उन्हें यह अनुभव करके होता होगा कि भारत के विभिन्न राज्यों के उच्च शिक्षित भारतवासियों के पारस्परिक व्यवहार-की भाषा भी अँगरेज़ी है और अशिक्षित या अर्धशिक्षित भारतीयों के अंतर्राज्यीय व्यवहार की कोई ख़ास भाषा नहीं है।

भारत राष्ट्र की जनता की राजनीतिक स्वतंत्रताप्राप्ति-के बाद आर्थिक स्वतंत्रता-प्राप्ति की कोई अवधि अभी तक निर्धारित नहीं की गई है। किन्तु, राष्ट्रभाषा-प्राप्ति की अवधि तो निर्धारित है। अवधि निर्धारित होते हुए भी उसकी कोई स्पष्ट तथा व्यावहारिक योजना अभी तक राष्ट्र के सामने नहीं है। फलतः, निर्धारित अवधि का एक-तृतीयांश से अधिक भाग व्यतीत हो जाने पर भी लक्ष्यप्राप्ति की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है।

इसका कारण व्यावहारिक है। स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व इस देश के सर्वोच्च शासकों और शासित जनता के बीच में प्रशासनविशेषज्ञ समझे जाने वाले कुछ उच्च अधिकारियों का जो महत्त्वपूर्ण सुविधाप्राप्त वर्ग था, उसकी स्थिति में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी कोई अन्तर नहीं हुआ है। उस वर्ग ने अपने तत्कालीन सर्वोच्च स्वामियों को प्रसन्न रखने के लिए अँगरेज़ी सीखी थी। आज उस वर्ग को यह देखकर बड़ा संतोष है कि अपने जिस उच्च अँगरेज़ी-ज्ञान से वह अपने पुराने सर्वोच्च स्वामियों को रिझा सकता था, उसीसे नए सर्वोच्च स्वामियों-को भी प्रसन्न रख सकता है। ऐसी दशा में वह हिन्दी के रूप में एक नई भाषा सीखने का कष्ट क्यों स्वीकार करे? उसके हिन्दी न सीखने का एक कारण यह भी है कि हिन्दी जनता की भाषा है और वह वर्ग भूतकाल में जनता को हमेशा तुच्छ समझने का आदी रहा है और आज भी अपनी इस आदत पर क़ाबू नहीं पा सका है। संयोगवश आज इस देश के शासन का सर्वोच्च सूत्र-संचालन भी प्रायः ऐसे लोगों-के हाथों में है, जिन्हें भारतीय भाषा के बदले अँगरेज़ी ही में लिखने और बोलने में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा होती है। दोनों की सुविधा जब एक ही स्थिति में है, तब वे उस तीसरे वर्ग की सुविधा का ख़याल क्यों करें, जिसे जनता कहते हैं?

राष्ट्रभाषा की समस्या के इस आंतरिक पहलू को न समझने के कारण ही सम्भवतः कई लोग इस प्रश्न पर गहराई और स्पष्टता से नहीं सोच पाते।

लोकतंत्र में हर समस्या का चरम समाधान जनता के हाथ में होता है। यह समस्या भी जनता के द्वारा प्रत्यक्ष

रूप में और अविलम्ब अपने हाथ में ले लिए जाने ही पर सुलझ सकती है।

अँगरेज़ जब इस देश में शासक बनकर आए, तब इस देश के बुद्धिजीवियों की भाषा अँगरेज़ी न थी। अँगरेज़ों ने ज़िद की कि उनके शासनकाल में इस देश के शासन की भाषा अँगरेज़ी ही होगी। उनकी इस ज़िद को हठधर्मी कहकर निंदित किया गया होगा। उस निन्दा की परवा न करके वे अपनी ज़िद पर अड़े रहे और उन्होंने अपनी निन्दा करने वाले बुद्धिजीवियों को शीघ्र ही अपनी भाषा का अनुचर बना लिया।

इसी प्रकार यदि समूचे भारतीय लोकतंत्र की कोटि-कोटि जनता अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान से प्रेरित होकर यह उचित ज़िद करे कि वह अपनी राष्ट्रभाषा के रूप में शीघ्र से शीघ्र भारतीय भाषा ही को देखना चाहती है, उन विदेशियों की भाषा को नहीं, जिन्होंने उसे ग़ुलाम बनाकर रखा, तो वह अपनी राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान कर ले सकती है। अँगरेज़ी की उपादेयता के आए दिन गीत गानेवाले अँगरेज़ों के मानसपुत्रतुल्य कतिपय भारतीय अवश्य ही इसे जनता की मूर्खता और हठधर्मी कहकर निन्दित करेंगे, किन्तु, यदि जनता अपनी निन्दा सहन करके भी अपनी उचित ज़िद पर अंत तक डटी रहेगी, तो उसे शीघ्र ही अपनी अभीष्ट राष्ट्रभाषा केवल मौखिक और सैद्धांतिक रूप ही में नहीं, बल्कि, व्यावहारिक रूप में भी, प्राप्त हो जाएगी। उसे शायद पन्द्रह वर्ष तक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ेगी।

उसे केवल इतना-सा काम करना होगा कि राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी अपनी सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति को लोकतंत्र-

के दूसरे सार्वजनिक निर्वाचन में अपने मतदान की पहली शर्त बना लेना होगा और साहसपूर्वक आगे बढ़कर इस शर्त की घोषणा अभी से प्रारम्भ कर देनी होगी ! इससे इस विषय की सारी उलझनें तत्काल समाप्त हो जायँगी और जनता देखेगी कि प्रथम निर्वाचन के बाद उसकी राष्ट्रभाषा-प्राप्ति की जो अवधि पन्द्रह वर्षों की थी, वह द्वितीय सार्वजनिक निर्वाचन के बाद दो वर्षों से भी कम की रह गई है। राष्ट्रभाषा की समस्या का अविलम्ब प्रभावशाली समाधान इससे बढ़कर और कोई शायद नहीं हो सकता।

राष्ट्रलिपि का प्रश्न

विश्व की आधी मानवता निरक्षर है और भारत की अधिकांश जनता। फिर भी, वह संस्कृतिशून्य नहीं कही जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि लिपि संस्कृति की अनिवार्य आवश्यकता और पुस्तकगत या लिपिबद्ध ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान नहीं है। ज्ञान और संस्कृति की रक्षा, लिपि की सहायता के बिना, युग-युग तक पारिवारिक तथा सामाजिक परम्पराओं द्वारा भी, की जाती रही है।

फिर भी, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मानवता के सांस्कृतिक विकास में लिपि का भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्रवहमान होना संस्कृति के जीवन का चिह्न है और जड़ता उसके ह्रास का। प्रवहमान वही संस्कृति हो सकती है, जो ग्रहणशील हो। ग्रहणशीलता के द्वारा प्राप्त होनेवाला सामंजस्य संस्कृति को चिरजीविनी बनाता है।

ग्रहणशीलता के क्षेत्र को विस्तृत बनाने के लिए मानवता-की विविधताओं को एक-दूसरी के निकट लाना लाभदायक होता है। तभी विविधता में एकता की उपलब्धि होती है, जो संस्कृति की सजीवता का एक महत्त्वपूर्ण मूलाधार समझी जाती है।

विज्ञान के काले पहलू ने जहाँ मानवता तथा विश्व के विध्वंस के साधन जुटाने में पहल की है, वहाँ उसका एक उजला पहलू भी है। उसने विश्वमानवों के पारस्परिक सम्पर्क-को सरल बनाकर भौगोलिक दूरी के व्यवधान को काफ़ी कम करने का यत्न किया है।

साहित्य और कला ने भी, जो संस्कृति के 'सर्वोत्तम' की दो प्रमुख अभिव्यक्तियाँ हैं, विज्ञान को अपना वाहन बनाकर अपने सम्पर्कों की सीमा विस्तृत करने का यत्न किया है। इससे उनमें काफ़ी निखार आया है और उनकी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ा है।

प्राचीन काल में यद्यपि लिपि के अभाव में भी अधिकतर निरक्षर जनता किसी न किसी प्रकार अपनी संस्कृति की रक्षा और उन्नति करती रही थी, तथापि, आज के विकसित युग में प्रगतिशील तत्त्वों द्वारा निरक्षरता को मानवता के लिए एक लांछन या अभिशाप माना जा रहा है और सांस्कृतिक क्षेत्रों के जागरूक तथा कर्मठ कार्यकर्ता इस अभाव को दूर करने का यत्न कर रहे हैं। आज बहुत कम व्यक्ति इससे इनकार करते हैं कि लिपि के द्वारा संस्कृति-के संरक्षण तथा संवर्धन में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

संस्कृति के संरक्षण, विकास तथा नित्यनूतन सम्पर्कलाभ-के क्षेत्र में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य मानवों के पारस्परिक नीरव संकेतों ने किया, उनके बाद उनकी मौखिक भाषा ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया, लिपि के आविष्कार के द्वारा प्रगति का तीसरा चरण उठा तथा अब मुद्रणकला के आविष्कार ने इस क्षेत्र में प्रगति का चौथा मापदंड प्रस्तुत किया है।

विज्ञान की अधुनातन प्रगति का तक़ाज़ा है कि विश्वमानवों-को एक दूसरे के निकट लाने तथा संस्कृति के संरक्षण, प्रसार तथा विकास के लिए लिपि की क्षमता का अधिकतम विकास किया जाय।

मुद्रण, मुद्रालेखन, प्रेषण, संवाद, संचरण, सम्पर्क तथा परिवहन के क्षेत्र के नवीनतम आविष्कार चाहते हैं कि लिपि उनके साथ क़दम मिलाकर चले और आवश्यकता के अनुरूप नए साँचे में भी ढले।

दूसरी ओर लिपि की अपनी कुछ विवशता भी है। उसने युगों तक संस्कृति के विकास और संरक्षण का जो काम किया है, वह उसकी पुरानी परम्परा और लम्बा इतिहास बन गया है। परम्परा और इतिहास से सम्बन्ध-विच्छेद करने में लिपि को स्वाभाविक संकोच होता है।

यदि क्रांतिकारी नवीनता का साहस प्रकट किया जाय, तो विश्व की आधी मानवता को, जो, निरक्षर होने के कारण, इस समय किसी भी लिपि की पुरानी परम्परा से बँधी हुई नहीं है, किसी ऐसी नवाविष्कृत लिपि का ज्ञान कराया जा सकता है, जो समूचे संसार की विभिन्न भाषाओं-के लेखन और मुद्रण के काम में समान रूप से उपयोगी हो सकती हो। इस प्रकार यदि आधा संसार किसी एक लिपि-के द्वारा सांस्कृतिक एकता सूत्र में बाँधा जा सके, तो शेष आधा संसार, जो अनेक लिपियों में बँटा हुआ है, उसके सामने चिरकाल तक न टिक सकेगा और धीरे-धीरे अपने-आप उसकी नवाविष्कृत लिपि को ग्रहण करने को बाध्य होगा। इस प्रकार किसी दिन संसार की अधिकांश जनता एक लिपि की सांस्कृतिक एकसूत्रता स्वीकार कर सकेगी।

जब अधिकांश मानवता की लिपि एक हो जायगी, तब उसके विभिन्न भागों की विभिन्न भाषाएँ लिपि-ऐक्य के कारण एक-दूसरी का अवगुंठनहीन मुख देख सकेंगी। इस प्रकार एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब लिपि की एकता की सहायता से विश्व की भाषाओं में भी एकता स्थापित हो सकती है।

किन्तु, यह योजना जितनी क्रांतिकारी है, मानवस्वभाव उतना क्रांतिकारी नहीं है, इसलिए, इसकी सफलता के मार्ग में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं।

इसकी अपेक्षा यह अधिक सरल है कि पहले राष्ट्रीयता के नाते एक समझे जानेवाले भूभागों में लिपिसम्बन्धी एकता की स्थापना का प्रयास किया जाय। उसके बाद अगले क़दमों के सम्बन्ध में विचार किया जाय।

वह युग बीत गया, जब पशुबल के प्रयोग से राज्यों का सीमापरिवर्तन और राष्ट्रीयता का प्रसार एवं संरक्षण किया जा सकता था। आज तो राष्ट्रीय भावना के निर्माण का साधन प्रेम तथा मित्रता ही को समझा जाता है।

प्रेम के सूत्र ही के द्वारा भारत एक राष्ट्र बना और क़ायम रहा है और प्रेम ही उसकी राष्ट्रीय एकता को भविष्य में भी बनाए रह सकता है। राष्ट्रीय भावना की भाँति ही राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का उचित प्रसार भी प्रेम द्वारा ही सम्भव है, निरे बलप्रयोग या केवल क़ानून द्वारा नहीं।

राष्ट्रभाषा की अपेक्षा राष्ट्रलिपि की समस्या कुछ कम जटिल है, अतः, उसका समाधान अपेक्षाकृत कम समय में सम्भव है और वह राष्ट्रभाषा की समस्या के समाधान में भी काफ़ी सहायक हो सकता है।

६

रोमन लिपि की सरलता ने न केवल उसकी अपूर्णता-पर आवरण डालने का यत्न किया, बल्कि, उसके प्रसार में भी काफ़ी सहायता पहुँचाई। आज न केवल अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों ही में, बल्कि, तुर्किस्तान जैसे देशों में भी रोमन लिपि का व्यापक प्रसार है। भारत में भी एक समय ऐसा आया था, जब न केवल उसके विदेशी शासकों ही ने, बल्कि, कुछ भारतीय देशभक्तों ने भी यह यत्न किया था कि भारत की राष्ट्रलिपि भी रोमन ही को बना दिया जाय। किन्तु, इस देश की जनता की ऐतिहासिक परम्पराएँ तथा सांस्कृतिक आस्थाएँ इतनी आसानी से विचलित होनेवाली न थीं कि रोमन को अपनी राष्ट्रलिपि स्वीकार कर लेतीं।

निस्सन्देह देवनागरी लिपि ही इस देश की लिपियों में सबसे अधिक व्यवहृत लिपि है। हिन्दी, मराठी आदि कुछ भाषाएँ तो इसी लिपि में लिखी जाती हैं। गुजराती भाषा के कुछ ग्रन्थों के परिच्छेदों के शीर्षक आदि भी कभी-कभी देवनागरी लिपि में छापे जाते हैं। इस देश की अन्य अनेक भाषाएँ भी ऐसी लिपियों में लिखी जाती हैं, जो देवनागरी लिपि से किसी हद तक मिलती-जुलती हैं।

इन सब व्यावहारिक कारणों ही से देवनागरी लिपि इस देश की राष्ट्रलिपि का स्थान ग्रहण करने की अधिकारिणी समझी जा सकती थी, किन्तु, इसके अतिरिक्त, उसके पक्ष-में एक और भी सुदृढ़ आधार है। इस देश का प्रायः समस्त प्राचीन साहित्य संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं-में है और इन भाषाओं की लिपि प्रायः देवनागरी ही है। हिन्दी भाषा भले ही अभी भारत के समस्त राज्यों में न समझी जाती हो, किन्तु, देवनागरी लिपि को थोड़ी-बहुत न

पढ़ सकनेवाले सुशिक्षित व्यक्ति प्रायः किसी भी राज्य में नहीं पाए जाते।

भारतीय संस्कृति का 'सर्वोत्तम' प्रायः देवनागरी लिपि ही में संरक्षित है। अतः, देवनागरी लिपि ही सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस देश की राष्ट्रलिपि बनने की अधिकारिणी है।

देश के विधान द्वारा तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि का पद दिया ही जा चुका है, व्यवहार तथा हार्दिक स्नेह द्वारा भी उन्हें वह पद प्राप्त हो, इसके लिए उचित यत्न किए जाने की आवश्यकता है।

देश के प्रत्येक सुसंस्कृत तथा विचारशील व्यक्ति द्वारा राष्ट्रलिपि के प्रश्न को आसानी से प्राथमिकता दी जा सकती है। देवनागरी को यदि समूचे देश की जनता के हार्दिक समर्थन द्वारा राष्ट्रलिपि का पद व्यवहारतः भी पाना हो, तो उसे सारे देश की आवश्यकता के अनुरूप अपना उचित रूप-परिवर्तन भी करना होगा।

राष्ट्रलिपि के प्रश्न पर देश के समस्त राज्यों के सांस्कृतिक क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ताओं, नेताओं तथा विशेषज्ञों को एक सूत्र में ग्रथित करके यह प्रश्न सर्वथा उन सबके हाथों ही में छोड़ देना चाहिए कि वे देवनागरी लिपि का संशोधित स्वरूप इस प्रकार निर्धारित करें कि न तो उसका इस देश-के प्राचीनतम साहित्य के सांस्कृतिक संचय से सम्बन्ध-विच्छेद हो और न वह वैज्ञानिक प्रगति के आधुनिकतम प्रवाह से अलग कटकर पिछड़ जाय। इन दोनों सिरों के बीच में एक स्वस्थ एवं संतुलित सामंजस्य की स्थापना की आवश्यकता है।

देवनागरी लिपि थोड़े से संशोधनों ही से इस योग्य हो

सकती है कि वह संसार की किसी भी भाषा की ध्वनि को बिलकुल शुद्ध रूप में अंकित कर सके। यह विशेषता विश्व-की बहुत कम लिपियों में होगी। इस विशेषता के साथ-साथ देवनागरी लिपि की दूसरी विशेषता यह भी है कि वह देखने-में काफ़ी सुन्दर लगती है। यदि उसकी इन दोनों विशेषताओं-को काफ़ी हद तक क़ायम रखते हुए उसमें एक तीसरी विशेषता यह और उत्पन्न की जा सके कि वह आधुनिकतम मुद्रण, मुद्रालेखन, प्रेषण, परिवहन, संचरण, संवाद-सम्पर्क आदि की दृष्टि से भी पूर्ण सुविधाजनक हो सके, तो उसकी उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जा सकती है।

केवल हिन्दीभाषी राज्यों ही के नहीं, समस्त भारतीय राज्यों के निष्पक्ष विशेषज्ञों की अधिकतम सहमत सलाह से यदि देवनागरी लिपि को एक देशव्यापक सर्वमान्य स्वरूप दिया जा सके, तो वह इस देश की एक बहुत बड़ी सांस्कृतिक उपलब्धि मानी जायगी।

देवनागरी के इस प्रकार सर्वसम्मति से स्वीकृत स्वरूप-को व्यावहारिक रूप में देशव्यापी बनाने का एक यह भी उपाय हो सकता है कि भारत की विभिन्न भाषाओं के सर्व-श्रेष्ठ साहित्य को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने की कोई बड़ी केन्द्रीय स्तर की योजना बने और शीघ्र ही कार्यान्वित की जाय। यदि इसके साथ-साथ उक्त साहित्य का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित हो सके, तब तो और भी अधिक लाभ हो।

विभिन्न प्रादेशिक लिपियों के अस्तित्व तथा विकास को कोई हानि न पहुँचाते हुए यदि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं-का सर्वश्रेष्ठ साहित्य इस प्रकार देवनागरी लिपि में प्रचुर

परिमाण में प्रकाशित किया जायगा, तो बिना किसी बाध्यता-के, अपने आप, उन भाषाओं के बोलनेवालों में देवनागरी लिपि के प्रति एक स्वाभाविक ममत्व जाग्रत होगा और राष्ट्र-लिपि के प्रेम की जड़ देश की जनता के हृदय में ऐसे प्रेमपूर्ण उपायों द्वारा बहुत गहरी जम सकेगी।

फलतः, धीरे-धीरे, विभिन्न राज्यों के सांस्कृतिक नेता तथा वहाँ की जनता राष्ट्रलिपि देवनागरी को अधिकाधिक ममत्व-के साथ अपनाने लगेगी, उसका सार्वभौम स्वरूप अधिकाधिक लोकप्रिय होगा तथा उसके माध्यम के द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं का पारस्परिक अन्तर भी क्रमशः कम होता जायगा। वे एक-दूसरी को अधिकाधिक पहचानने लगेंगी। इस प्रकार राष्ट्रलिपि की समस्या का समाधान राष्ट्रभाषा की समस्या के समाधान का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनात्मक सोपान सिद्ध होगा।

मध्यकाल में जिन लोगों ने भारत के बाहर से आकर इस देश का शासन अपने हाथों में लिया, उन्होंने जिस तरह इस देश की भाषा को अपनाया, उसी तरह यदि वे इस देश-की लिपि को भी अपना लेते, तो हिन्दी और उर्दू का संघर्ष उत्पन्न ही नहीं होता। आज बँगाल के साम्प्रदायिक आधार-पर दो भाग हो चुकने पर भी बँगला लिपि और बँगला भाषा-की एकता के आधार पर उन दोनों भागों में काफ़ी हद तक सांस्कृतिक एकता बनी हुई है।

यदि निरे बहुमत और क़ानून के बल-प्रयोग को अधिक महत्त्व न देते हुए प्रेम और शान्तिपूर्ण रचनात्मक काम के सहारे राष्ट्रलिपि देवनागरी के किंचित् सुधरे हुए स्वरूप को भारत-व्यापी बनाने के लिए उचित त्याग और बलिदान किया

जायगा, तो इस देश की सांस्कृतिक एकता की दिशा में एक बहुत बड़ा पदक्षेप किया जा सकेगा।

इसके लिए यह आवश्यक है कि संकीर्णता और दुराग्रह का पूर्ण परित्याग किया जाय, राष्ट्रलिपि का प्राचीन संस्कृति तथा आधुनिक विज्ञान दोनों के संतुलित सामंजस्य द्वारा समर्थित संशोधित स्वरूप सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाय और उसमें देश की समस्त भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को समदृष्टि होकर बड़े पैमाने पर प्रकाशित किया जाय। प्रादेशिक भाषाओं के प्रति अपने हार्दिक सद्भाव का परिचय देने के लिए इस पर होने वाले अधिकांश व्यय का भार स्वेच्छा से हिन्दीभाषी राज्य उठावें और केन्द्र तथा अन्य राज्य भी स्वेच्छा ही से उनकी इसमें उचित सहायता करें।

भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच

भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच एक ऐसी संस्था है, जिसका अस्तित्व आज है भी और नहीं भी है।

अपने सुव्यवस्थित और सुयोजित स्वरूप में तो वह आज नहीं है, किन्तु, अपने अव्यवस्थित और बिखरे हुए रूप में वह मौजूद है।

भारतीय समाज की आज की एक सांस्कृतिक समस्या यह भी है कि इसमें कला का जीवन से और जीवन का कला से शनैः-शनैः सम्बन्धविच्छेद-सा होता जा रहा है। कला के क्षेत्र में काम करने वाले जीवन के क्षेत्र में सक्रिय रूप में काम करने का सम्मानपूर्ण अवसर प्रायः नहीं पाते और जीवन के क्षेत्र में सक्रिय रूप में काम करनेवालों का कला से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है। यह एक ध्रुव सत्य है कि जीवनशून्य कला निर्बल होती है और कलाशून्य जीवन नीरस। इस सिद्धान्त के अनुसार आज प्रायः भारतीय समाज का नेतृवर्ग नीरसता का शिकार है और कलाकार-वर्ग निर्बलता का। इस विषमता को किसी हद तक दूर करने का एक उपाय भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच का सुयोजन भी है। अभिनय कला और जीवन को जोड़नेवाली एक महत्त्व-पूर्ण कड़ी है। अभिनय को प्राणपूर्ण बनाने के लिए जीवन-के सक्रिय अनुभव की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जिस

अभिनय में जीवन की यथार्थ अनुकृति नहीं है, वह अभिनय जितना असफल है, उतना ही असफल वह अभिनय भी है, जिसमें कला का अभाव है।

अनुकरण मानवजीवन के उत्कर्ष की सीढ़ी है। शिशु जब पूर्ण मानव बनने की दिशा में प्रगति करते हुए एक-एक वर्ष का अन्तर लाँघता है, तब अनुकरण भी उसका एक आधार बनता है। कला के क्षेत्र में भी अभिनय की सफलता इसलिए आदरणीय है कि वह जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। जीवन से कटकर अलग हो जाने पर यों तो सभी कलाएँ निर्जीव हो जाती हैं, पर, अभिनय तो ऐसा करके विद्रूपमय कंकालमात्र ही रह जाता है।

जिस कला को अपनी सजीव और शक्तिशाली सफलता-के लिए जीवन के अनुकरण की जितनी अधिक आवश्यकता होती है, उस कला की जीवन को भी अपना रसस्रोत अक्षय रखने के लिए उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है।

किसी राष्ट्र की प्रगति का एक प्रमुख मापदंड यह भी होता है कि उसका राष्ट्रीय रंगमंच कितना उन्नत और विकसित है, उसकी अभिनयकला कितनी सजीव, जीवन-स्पर्शी और सरस होती है तथा उसकी जनता के प्रतिदिन-के जीवन में अभिनयकला ने कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रखा है।

अभिनयकला के बीजाणु भारतीय जनता के जीवन में पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं, यह दूसरी बात है कि वे बिखरे हुए, अविकसित तथा अव्यवस्थित रूप में हैं।

भारत के प्रत्येक प्रांत के किसी न किसी गाँव में किसी

न किसी रूप में कभी न कभी कोई न कोई अभिनय देखने-को मिल ही जाता है। चूँकि उसमें किसी सीमा तक भारतीय जीवन का प्रतिबिम्ब रहता है, इसलिए ग्रामों की जनता के आज के जीवन की भाँति ही उसका स्वरूप भी कुछ संकुचित तथा अविकसित रहता है। ग्राम की अभिनयकला ग्रामवधू की भाँति स्वभावतः संकोचशील तथा साधनहीन है, उसे सिनेमा की नगर-नारी की भाँति प्रचुर साधन प्राप्त नहीं हैं।

किन्तु, ग्राम-अभिनयकला में एक विशेष प्रकार की शक्ति है, एक अकृत्रिमता है। यदि उसे आधार बनाकर उचित पैमाने पर भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच का नवनिर्माण और विकास किया जाय, तो वह सरस होने के साथ-साथ सजीव और शक्तिशाली भी बन सकेगा।

लोकसंगीत, लोकनृत्य तथा लोकचित्रण की भाँति लोकअभिनय भी भारतीय ग्रामों में आज उपेक्षित पड़ा हुआ है। उसकी ओर देखने का अवकाश राष्ट्रनेताओं को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी अभी तक नहीं मिल पाया है। किन्तु, अपनी उपेक्षित अवस्था में भी ग्रामों की लोकअभिनयकला में एक ऐसा अविकृत सौंदर्य छिपा हुआ है, जिसे आधार बनाकर जीवनस्पर्शी अभिनयकला का वह विकास किया जा सकता है, जो भारतीय राष्ट्रीय रंग-मंच की जीवन-ज्योति बन सकता है।

साहित्य केवल वह नहीं हो सकता, जो राष्ट्र के किसी एक केन्द्रीय तथा विशाल पुस्तकालय में पुस्तकों के संग्रह-के रूप में क़ैद हो, चित्रकला केवल वह नहीं हो सकती, जो राष्ट्रीय कलाभवन में संगृहीत कुछ चित्रों में सीमित हो,

इसी प्रकार अभिनयकला की संज्ञा केवल उस आयोजन को नहीं दी जा सकती, जो किसी एक केन्द्र में स्थित राष्ट्रीय रंगमंच नामक संस्था का मुहताज हो।

भारतीय जनता की व्यापक सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप अभिनयकला तो आज वही कहला सकती है, जो ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में व्यापक किन्तु विकेन्द्रित रूप-में विकसित होने का पूरा अवसर पा सके। इसी व्यापक लोकअभिनयकला के वाहन बनकर जो रंगमंच भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में जनता की सांस्कृतिक सेवा करेंगे, उन सबका मिला-जुला नाम ही होगा भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण भले ही आज राजनीतिक क्षेत्र-का सर्वसम्मत सिद्धान्त न बन पाया हो, किन्तु, कला का विकेन्द्रीकरण तो आज निर्विवाद रूप से भारतीय कला को जीवित, व्यापक और सरस बनाए रखने का एकमात्र उपाय माना जा सकता है। कला का सौरभ तो जन-जन के मन-मन में मुक्त रूप में फैलकर ही सार्थक हो सकता है। केन्द्रीकरण तो इस देश की कला के लिए बन्दीकरण ही बन सकता है, जो उसके लिए किसी हद तक मारक ही सिद्ध हो सकता है।

भारत के राज्य-राज्य के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में जो लोकगीत, लोकचित्रण, लोकनृत्य और लोकअभिनय आज उपेक्षित हैं, उनकी उपलब्धि उसी गौरव के साथ की जानी चाहिए, जिस गौरव के साथ इतिहास का अन्वेषण किया जाता है। इन्हें भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच का बीज रूप-में मूलाधार बनाया जाना चाहिए और उसी आधार पर

अभिनयकला का उचित विकास करके प्रत्येक ग्राम और नगर को अपना सार्वजनिक रंगमंच दिया जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति, कला, साहित्य और जीवन से वास्तविक सम्पर्क रखनेवाले सुरुचिपूर्ण नाटकों का सुयोग्य नाटककारों-द्वारा निर्माण कराया जाकर स्थान-स्थान पर उनके अभिनयों की व्यवस्था कराई जानी चाहिए। इस प्रकार नीचे से उठकर ऊपर जाना चाहिए। ग्रामों, ग्रामसमूहों और नगरों-के इन सार्वजनिक रंगमंचों को यह अवसर दिया जाना चाहिए कि वे केन्द्रीय राष्ट्रीय रंगमंच का संचालन करें, न-कि इनके सहयोग के बिना ही कोई एक केन्द्रीय रंगमंच बनाकर उसके द्वारा इनका संचालन कराया जाना। ऊपर-से सूत्रसंचालन किए जाने पर नीचे की यह अकृत्रिम कला कृत्रिम, निर्जीव और ग़ुलाम बन जा सकती है। इस ख़तरे-से इसे बचाने का शुरू से पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए।

राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना तथा सम्यक् संचालन का आन्दोलन भारत का एक राष्ट्रीय आन्दोलन बनना चाहिए और उसकी प्रेरणा में उचित पवित्रता, उच्चादर्शप्रवणता तथा जीवनसम्पर्क होना चाहिए।

स्वतंत्रता के राष्ट्रीय आंदोलन में हमें सफलता तभी मिली, जब हमने उस क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ नेता महात्मा गाँधी को उसका नेतृत्व सौंपा। देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य-में भी हमें तब तक सफलता न मिलेगी, जब तक हम उसका नेतृत्व भी महात्मा गाँधी को न सौंपेंगे। इस बात में विचित्रता कुछ भी नहीं है। महात्मा गाँधी का पार्थिव शरीर भले ही हमसे बिछुड़ गया हो, किन्तु, अपने सिद्धान्तों के रूप-में वह आज भी हमारे बीच में जीवित हैं। उन आदर्शों को

समझकर उनपर आचरण करने वाले इस देश में आज भी मौजूद हैं, भले ही उनकी संख्या बड़ी न हो। यदि हमें इस दिशा में उनका नेतृत्व मिले, तो वह महात्मा गाँधी ही का नेतृत्व होगा और उस नेतृत्व के पथ-प्रदर्शन में निस्संदेह हम सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय रंगमंच के नवनिर्माण और उचित विकास के कार्य में हमें कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे नेता की आवश्यकता है। वह भी आज अपने सांस्कृतिक, साहित्यिक, रंगमंचीय तथा कला-सम्बन्धी आदर्शों के रूप में हमारे बीच में जीवित हैं। उनका प्रतिभापुंज ही वर्तमान युग की वास्तविक भारतीय प्रतिभा-का प्रतिनिधि पुंज था। वह आज अनेक कलाकारों में बँट भले ही गया हो, किन्तु, अस्तित्वहीन नहीं हुआ है। ऐसे ही आदर्शनिष्ठ कलाकारों को राष्ट्रीय रंगमंच के आन्दोलन का नेतृत्व दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय रंगमंच का आन्दोलन प्रारम्भ होने के पूर्व ही एक दोराहे पर खड़ा हो गया है। वह अभी अपना दिशा-निर्धारण नहीं कर पाया है।

आज का भारतीय सिनेमा-उद्योग अधिकांशतः जिन कारणों से भारतीय आदर्श, संस्कृति, जीवन और कला से कटकर अलग हो गया है, वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। उन्हींकी आवृत्ति राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण के समय न की जानी चाहिए।

भारतीय सिनेमा-जगत् का दिशादर्शन तथा नेतृत्व आज प्रायः फ़िल्म-निर्माण-संस्थानों के पूँजीपति मालिक ही करते हैं। वास्तविक सूत्र-संचालक बहुधा वही होते हैं। निर्देशक, अभिनेता, कथाकार, गीतकार आदि सब प्रायः मालिकों की कठपुतलियों ही के विभिन्न नाम होते हैं। कला, आदर्श, लोक-

सेवा, उच्चचारित्र्य आदि से बहुत से मालिकों का क्या सम्बन्ध होता है, यह आज किसीसे छिपा नहीं है। यह कल्पना के बाहर की बात है कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जयशंकरप्रसाद आदि जैसे कलाकारों की कोटि के व्यक्ति ऐसे मालिकों की कठपुतली बनकर काम कर सकते।

पूँजीपति मालिकों के स्थान पर राष्ट्रीय रंगमंच के सिर-पर सूत्रसंचालक बनकर यदि राजनीतिक नेता, शासक या उनके पिट्ठू बैठ जायँगे, तो राष्ट्रीय रंगमंच भी बंटाधार हुए बिना न रहेगा।

राष्ट्रीय रंगमंच जनता के जीवन को उच्चादर्शयुक्त तथा वास्तविक सांस्कृतिक प्रेरणा तभी दे सकता है, जब ऐसी प्रेरणा के मूल स्रोत साहित्यकार को उसमें शीर्षस्थान प्राप्त हो।

साहित्यकार ही रंगमंच को उसकी आत्मा और प्राण दे सकता है और वह आत्मा और प्राण है नाटक। रंगमंच-को आत्मा देने और उसकी प्राणप्रतिष्ठा करने का काम नाटक-कार का है; निर्देशक, अभिनेता आदि तो रंगमंच के विविध अंगमात्र हैं। उन्हें प्राणप्रतिष्ठापक तथा आत्मदाता के आदर्शों और कल्पनाओं के अनुसार काम करना चाहिए। तंत्र को आत्मा के अनुरूप ढालना चाहिए, न कि तंत्र के अनुरूप ठोक-पीटकर आत्मा को तैयार करना। निस्संदेह शरीर के विविध अंगों का बहुत अधिक महत्त्व है, किंतु, वह प्राण-प्रतिष्ठापक तथा आत्मदाता के महत्त्व से अधिक कदापि नहीं हो सकता। पूँजीवादी व्यवस्था ने मानवमूल्यों में जो उलट-पुलट कर दी है, उसके कारण रंगमंच-जगत् में नाटककार

की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई है। राष्ट्र के नवनिर्माण की उत्सुक शक्तियों की न्यायदृष्टि को नाटककार को उसका वास्तविक स्थान देना पड़ेगा।

अर्थार्जन को महत्त्व देनेवाले, नाटककारों को अपने से गौण समझनेवाले तथा जीवनभर सिनेमा-फ़िल्मों में असांस्कृतिक तथा सुरुचिशून्य ढंग से काम करने के बाद नाटकों में अतिरंजना, उत्तेजना, कृत्रिमता, अस्वाभाविक भाषा आदि का विकृत स्वरूप लेकर आनेवाले अभिनेता भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माता, नेता या प्राणप्रतिष्ठापक नहीं बन सकते। राजपुरुषों के समर्थन की वैसाखियों का आधार भी उन्हें अधिक दिनों तक खड़ा नहीं रख सकता।

ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में जो वास्तविक प्रतिभा-सम्पन्न सांस्कृतिक साधक और आधुनिक साहित्यिक ऋषि अपने विनम्र रूप में मौजूद हों, उनकी प्रतिभा का नेतृत्व हम उन-उन क्षेत्रों के सार्वजनिक रंगमंचों के सम्बन्ध में सम्मानपूर्वक ग्रहण करें और उन सब जनपदीय रंगमंचों के लोकतान्त्रिक संचालन-द्वारा जिस राष्ट्रीय रंगमंच की प्रातिनिधिक स्थापना किसी केन्द्र में करें, उसकी प्राणप्रतिष्ठा का भार तथा आदर्शों का नेतृत्व रवीन्द्रनाथ, जयशंकरप्रसाद आदि जैसे नाटककारों को सौंपें, कला का नेतृत्व नन्दलाल वसु जैसे चित्रकारों को दें और इसी परम्परा में सुसंगत बैठनेवाले निर्देशक तथा अभिनेता उस महान् कार्य के लिए जुटाएँ, तभी राष्ट्रीय रंगमंच का उचित रूप प्रस्तुत हो सकेगा। अन्यथा, प्रथम तो उसका निर्माण ही न हो सकेगा और यदि हुआ भी तो उचित विकास न हो सकेगा। यदि ग़लत आधारों पर उसे विकसित किया गया, तो वह भी बहुत से सिनेमा-उद्योग-संस्थानों की

भाँति राष्ट्र के अगौरव का कारण सिद्ध होगा, गौरव का नहीं।

अतः, भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच की सुयोजित स्थापना का नारा लगाने के पहले हम उसके उचित मूलाधार निर्धारित कर लें और इन्हीं मूलाधारों पर उसका नवनिर्माण करें। यदि उसका आधार सुदृढ़ और पवित्र हुआ, तो उचित उपकरण और तंत्र तो क्रमशः जुट ही जायँगे। उनकी शुरू-से चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं।

भारतीय खेलों का प्रश्न

'लीलामयः श्रीभगवान्, लीलाक्षेत्रमिदं जगत्' कहकर भारतीय दर्शन ने विश्वव्यापक ब्रह्म की परिकल्पना सम्भवतः एक खिलाड़ी के रूप में की है और इस विस्तृत विश्व की एक खेल के मैदान के रूप में।

खेलकूद न केवल राष्ट्र की शरीरिक स्वस्थता का लक्षण है, बल्कि, उससे राष्ट्र की मानसिक उत्फुल्लता, निर्मलता, उदारता और आन्तरिक स्वास्थ्य का भी परिचय मिलता है। संस्कृति-की परिभाषा ने आजकल जो विस्तार प्राप्त कर लिया है, उसे ध्यान में रखने पर खेलों का समावेश संस्कृति के क्षेत्र के अन्तर्गत अनायास ही किया जा सकता है।

खेलों से मनुष्य को वह मनोभावना प्राप्त होती है, जो उसे असफलता में निराशा से तथा सफलता में अहंकार-उन्माद से बचाती है। यह संतुलित मनोभावना गीता द्वारा प्रशंसित स्थितप्रज्ञ की मनःस्थिति के प्रारम्भिक स्वरूप से किसी हद तक मिलती-जुलती है। इस मनःस्थिति के द्वारा मानव-को न केवल व्यक्तिगत जीवनसंघर्ष में, बल्कि, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सार्वजनिक जीवन-संघर्षों में भी निरन्तर अविचलित, आशान्वित, अपराजित तथा निरहंकार धैर्य तथा सक्रियता प्राप्त हो सकती है। यह मनोवृत्ति कर्मयोग-

के साधक मानव की जीवन-साधना के भवन की नींव की एक महत्त्वपूर्ण आधारशिला मानी जा सकती है।

सामूहिक खेलों को यदि इतना अधिक महत्त्व न भी दिया जा सके, तो भी यह तो माना ही जा सकता है कि राष्ट्र के जीवनस्रोत को अजर, अक्षुण्ण तथा स्वस्थ बनाए रखने के प्रयत्नों की दिशा में उनकी अपनी एक उल्लेखनीय उपयोगिता है।

व्यक्तिगत और एकान्त व्यायाम से जहाँ केवल शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है, वहाँ सामूहिक खेलों से शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार का, स्वास्थ्य उपलब्ध होता है। स्वस्थ आनन्द और मनोरंजन की प्राप्ति का भी खेलकूद एक निर्दोष साधन है। ऐसे साधनों से राष्ट्र को जीवन और यौवन प्राप्त होता है।

दस-बीस या पचीस-पचास, खेलनेवालों ही को नहीं, उनके अतिरिक्त, सैकड़ों और हजारों दर्शकों को भी, खेलों से जो उत्साह, आनन्द, जीवनप्रेरणा और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है, उसका मूल्य भी कम नहीं है।

खेलों की उपयोगिता तो उल्लेखनीय है ही, उनका इतिहास भी काफ़ी पुराना है। खेलों की ऐतिहासिक परम्पराओं-ने भी उन्हें मानवीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनने-में सहायता पहुँचाई है।

यदि कोई समझदार विदेशी यात्री किसी जीवित राष्ट्र के सम्पर्क में आने के लिए उसकी भूमि की यात्रा करता है, तो वह उसका सांस्कृतिक मूल्यांकन करने के लिए उसके बड़े-बड़े सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक सम्मेलनों में उपस्थित

होने का यत्न करता है, उसकी प्रमुख संगीतशालाओं और नाट्यशालाओं में जाता है और उसके खेलों के मैदानों में उसके खेलों, खिलाड़ियों और उन खेलों के दर्शकों का सूक्ष्मता और गम्भीरता से निरीक्षण करता है। इन्हीं सब आयोजनों में उसे उस राष्ट्र के जीवनस्रोत, विकास, क्षमता तथा संस्कृति की वास्तविकता का प्रथम दर्शन होता है। और अधिक गहराई में जाने के लिए वह उसके ग्रामों, उपनगरों और छोटे नगरों में जाता है। यदि वह उस देश के बड़े नगरों के जीवन तथा उस देश की अधिकांश जनता के वासस्थान ग्रामों तथा छोटे नगरों के जीवन में बहुत अधिक अन्तर और विषमता पाता है, तो वह उस देश को एक पाखंडी देश समझकर निराश हो सकता है।

हमारे देश भारत की संस्कृति जितनी पुरातन है, उतनी ही ग्रहणशील भी है। वह चिरकाल से अध्ययनशील पर्यटकों के आकर्षण का विषय रही है। उसके सम्बन्ध में संसार के संस्कृतिप्रेमियों की काफ़ी उच्च धारणा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उस धारणा को किसी भी प्रकार आहत न होने दें।

प्राचीन भारतीय साहित्य, दर्शन आदि से प्रभावित होकर हमारी वर्तमान संस्कृति का ज्ञान और अनुभव पाने की इच्छा से इस देश में आने वाला प्रत्येक जिज्ञासु यात्री स्वभावतः यह जानना चाहेगा कि भारतीयों की प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय भाषा एवं साहित्य की उन्नति किस सीमा तक हो चुकी है, भारतीयों की अपनी पोशाक कैसी है, उनका अपना आहार कैसा है, उनकी चित्र कला, संगीत, नाट्य आदि किस हद तक प्रगति कर चुके हैं और यह कि भारत-

के अपने खेल कैसे हैं तथा उन्हें उच्च भारतीय समाज में कैसा स्थान प्राप्त है।

सूक्ष्मता और गम्भीरता से अध्ययन करने पर वह सम्भवतः इस परिणाम पर पहुँचेगा कि वास्तविक भारत ग्रामों-में बसता है। भारत के ग्राम आर्थिक दैन्य से पीड़ित होते हुए भी चिरकालीन ग्रामसंस्कृति के अक्षय कोष से परिपूर्ण हैं। भारतीय ग्रामों के अपने लोकगीत हैं, लोकनृत्य हैं, लोक-चित्रकला है, लोकशिल्पकला है और अपने लोकप्रिय खेल भी हैं। साथ ही वह इस परिणाम पर पहुँचने को भी विवश होगा कि ग्रामों की इस समूची सांस्कृतिक सम्पदा की अनेक ऐसे लोगों के द्वारा घोर उपेक्षा हो रही है, जो नगरों में रहते हैं और अपने को इस ग्रामीण राष्ट्र की जनता का प्रतिनिधि और शायद भाग्यविधाता भी समझते हैं।

हम भारतीय स्वयं चाहे इस पर लज्जित न हों, पर, संस्कृति का मर्मज्ञ कोई भी विदेशी यात्री इस देश में आने-पर यह देखकर लज्जित हुए बिना नहीं रहेगा कि इस देश-के केन्द्रीय तथा विभिन्न राज्यों के सचिवालयों के कुछ अंगों-पर आज कुछ ऐसे लोगों का भी प्रभाव है, जो इस देश-की जनता की भाषा, परिधान तथा खेलों आदि के बदले विदेशी भाषा, परिधान, खेलों आदि के मोह में पड़े हुए हैं। इस लज्जा का अनुभव वह विशेषतः इसलिए करेगा कि वह स्वयं अपनी भाषा, परिधान, संस्कृति, खेलों आदि का स्वाभा-विक रूप में भक्त होगा और केवल अपने ही देश में नहीं, बल्कि, विदेशों में भी उन्हें अपने साथ लिए फिरने में आत्म-गौरव का अनुभव करता होगा।

आधुनिक भारतीय संस्कृति के दो सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे—

महात्मा गाँधी और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर। वे विदेशों-में सदा भारतीय वेशभूषा ही में यात्रा किया करते थे और इस प्रकार उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाया करते थे। यदि उनका शारीरिक स्वास्थ्य इस योग्य होता, तो वे सम्भवतः विदेशों-में भारतीय खेल खेलना भी पसन्द करते और इस प्रकार उनका गौरव बढ़ाते।

आज अपने को उक्त दोनों महापुरुषों का अनुयायी या प्रशंसक समझने वाले अनेक उच्च-पदस्थ भारतीय व्यक्ति विदेशी वेशभूषा और विदेशी खेलों पर अनुचित मोह प्रकट करके उस भारतीय ग्रामीण जनता का अपमान कर रहे हैं, जिसके सेवक या प्रतिनिधि होने का दावा किए बिना वे अपने पदों पर बने नहीं रह सकते।

आए दिन जब ये समाचार पढ़ने को मिलते हैं कि हमारे देश के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति इस देश के विभिन्न नगरों-में विविध विदेशी खेलों की प्रतियोगिताओं के आयोजनों में बड़े उत्साह और गौरव से भाग लेते रहते हैं, तब इस देश-के उपेक्षित ग्रामीणों और उनके उपेक्षित ग्रामीण खेलों की ओर बरबस एक उच्छ्वासपूर्ण दृष्टि जाती है। मन में सहसा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो भारतीय खेल विदेशी शासन के युग में सम्मान, गौरव और यश के स्नेह-स्पर्श-से निरन्तर वंचित रहे थे, क्या वे स्वतन्त्र भारतीय लोकतन्त्र-में भी प्रायः ज्यों-के-त्यों उपेक्षित बने रहेंगे।

कोटि-कोटि ग्रामवासी भारतीय कितने प्रसन्न और गौरवान्वित हों, यदि उनके शिक्षित और साधनसम्पन्न देश-वासी नागरिक उनके ग्रामीण खेलों का अन्वेषण करें, उनका पुनरुद्धार करें, उनका आवश्यक परिष्कार करें, उन्हें भारत-

के राष्ट्रीय खेलों का सर्वोच्च सम्मानित पद देकर, केन्द्रीय तथा राज्यों की राजधानियों के विशाल सार्वजनिक क्रीडांगनों में प्रतिष्ठित करें और इस प्रकार संसार को यह बतावें कि भारत का क्रीड़ाव्यापार केवल विदेशों के उधार-खाते ही पर चलने वाली चीज़ नहीं है, बल्कि, भारतीय राष्ट्र की अधिकांश जनता के अपने निजी खेल भी हैं और उनमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पाने की क्षमता भी छिपी हुई है।

विदेशी खेल केवल अपने गुणों के कारण ही अपने राष्ट्रों को पूर्णतया व्याप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक आगे नहीं बढ़ आए हैं, इसके पीछे उन खेलों के खेलनेवालों की राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना भी छिपी हुई है। भारतीयों की राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना के अभाव में भारतीय खेलों को न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र ही में उपेक्षित होना पड़ा है, बल्कि, वे अपने ही देश में अपने ही अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उपेक्षित हैं। भारत के सिवा किसी अन्य देश की जनता सम्भवतः अपने जीवन पर इतना बड़ा सांस्कृतिक लांछन सहन नहीं कर सकती थी।

आप स्वयं अपने राष्ट्र की, अपने देश की जनता की, जनता के खेलों की, उसकी संस्कृति की, उसकी भाषा की और उसके परिधान आदि की क़द्र कीजिए, दुनिया शीघ्र ही इन सबकी क़द्र करने लग जायगी। यह एक सीधा-सा सिद्धान्त है। आप स्वयं इन सबकी उपेक्षा करके विदेशी संस्कृति, भाषा, परिधान और खेलों को अपनाइए, आपकी संस्कृति, भाषा, परिधान और खेल संसार में और अपने ही देश में घोर उपेक्षा और अपमान के पात्र बन जायँगे।

इस देश के महत्त्वपूर्ण तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों से भारतीय संस्कृति, परिधान, भाषा और खेलों को सम्मानपूर्वक अपनाने की प्रार्थना करना तभी तक आवश्यक है, जब तक इस देश की कोटि-कोटि ग्रामवासी जनता में आत्म-जाग्रति की कमी है। जिस दिन इस देश की बहुसंख्यक जनता में यथेष्ट तथा वास्तविक आत्मजाग्रति उत्पन्न हो जायगी, उस दिन न केवल इस देश के उच्च तथा महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले अनेक व्यक्ति भारतीय भाषा, संस्कृति, परिधान और खेलों के पीछे पागल बने फिरेंगे, बल्कि, संसार के समस्त उन्नत राष्ट्र भारतीय भाषा, परिधान और खेलों के आगे आदर से नतमस्तक होंगे। जनता के अन्दर अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को उच्चतम स्थान दिलाने की अद्भुत क्षमता छिपी पड़ी है। उसे केवल जाग्रत करने की आवश्यकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि संकीर्णता, वर्जना और अनुदारता की मनोवृत्ति स्वस्थ राष्ट्रों की यथेष्ट उन्नति में बाधक होती है। किन्तु, हमारे देश की स्थिति अन्य देशों से कुछ भिन्न है। हमें इसकी विशेष स्थिति के अनुरूप ही इसकी समस्याओं का समाधान खोजना होगा। हमारा देश बहुत वर्षों तक विदेशियों की दासता में रह चुका है। अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति सदा प्रवहमान, सहिष्णु और स्वागतशील रही है। उसने संसार की विभिन्न संस्कृतियों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। किन्तु, पर्याप्त संचय-संग्रह के बावजूद भी, उसने अपने सांस्कृतिक मूलाधार को नष्ट या परिवर्तित नहीं होने दिया है। भारतीय दर्शनों के शील की सुवास उसमें यथावत् है। अँगरेज़ों की दी हुई जो देन हमारी मानसिक दासता की प्रतीक है और जिससे हमारा वास्त-

विक हित नहीं होता, उसके प्रति हमारा व्यवहार परिमार्जना की मनोवृत्ति से प्रेरित होना ही चाहिए, जिससे हम अपने राष्ट्र को मानसिक दासता के अवशिष्ट चिह्नों के विष-से पूर्णतया मुक्त कर सकें। इस मुक्ति के बाद हम स्वस्थ चित्त-से स्थिति पर पुनर्विचार कर सकेंगे और उस समय यदि बिना किसी बलात्कार के कोई अच्छी चीज़ हमें देने का यत्न किया जायगा, तो अपने राष्ट्रीय हिताहित की दृष्टि से सोच-समझकर हम उसके आवश्यक और लाभदायक तत्त्व अवश्य ग्रहण करेंगे। किंतु, ग़ुलाम मनोवृत्ति पैदा करनेवाली विदेशी देन को तो हमें एक बार विताड़ित करके अपने राष्ट्रजीवन की शुद्धि करनी ही पड़ेगी। उस शुद्धि के बाद इकतरफ़ा आयात की गुंजाइश न रहेगी। जो मित्रतापूर्वक हमसे हमारे अच्छे तत्त्व ग्रहण करने को तैयार रहेगा, उसके श्रेष्ठ तत्त्वों को देन के लिए हमारे सांस्कृतिक जीवन के स्वागतद्वार खुले रहेंगे।

आज तो हमें अपनी भाषा, परिधान आदि की भाँति अपने राष्ट्रीय खेलों का पुनःप्रतिष्ठापन भी मज़बूत हाथों ही से करना पड़ेगा। यह तब तक न हो सकेगा, जब तक हम विदेशी खेलों के अनुचित मोह को अपने राष्ट्रजीवन से अपदस्थ न करें। हमें ऐसे थोथे अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन से कुछ समय तक परहेज़ करना पड़ेगा, जो हमारी अधिकांश जनता से हमारा सम्बन्धविच्छेद करके हमारे जीवन की जड़ ही काटने का उपक्रम किया चाहता हो।

हमारे देश की कोटि-कोटि जनता के अपने दुख-सुख हैं, क्रंदन-हास, उल्लास और गान हैं, उसकी अपनी संस्कृति है, अपना ममत्व है, अपना निजस्व है। वह जिन माध्यमों-

के द्वारा अभिव्यक्त होता है, उनमें सामूहिक खेलों का एक निर्विवाद महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारी ग्रामीण जनता के अपने खेल हैं। उन खेलों की अपनी विशेषताएँ हैं। स्वास्थ्य-लाभ, आनन्द-विनोद तथा उत्साह-उल्लास की दृष्टि से हमारे देशी खेल विदेशी खेलों से किसी भी दृष्टि से हीन नहीं हैं। फिर क्या कारण है कि उन्हें लोकतंत्र में भी हमारे राष्ट्र-जीवन में सर्वोच्च गौरव प्राप्त न हो, हमारे बड़े-बड़े नगरों के विशाल राष्ट्रीय क्रीड़ांगनों में उन्हें सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त न हो ?

"महाजनो येन गतः स पंथा" जनता की दृष्टि से भले ही भेड़ियाधसान का एक मूलमंत्र प्रतीत होता हो, किन्तु, लोकनेताओं की दृष्टि से तो यह आत्मनिरीक्षण ही का एक सूत्रवाक्य समझा जा सकता है। जो लोग जनता के नेता होने का दावा रखते हैं, उन्हें प्रत्येक क्षण इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपना प्रत्येक आचार-व्यवहार ऐसा रखें कि स्वभावतः उसका अनुकरण करने पर जनता आदर्शच्युत न हो, अपनी संस्कृति से दूर न हट जाए।

वह लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता, जिसमें जनता और जननायकों के बीच विषमता की गहरी खाई हो। समता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि नेता उन चीज़ों का मोह छोड़ें, जिनका प्रवेश वे जनता के जीवन में नहीं करा सकते और उन चीज़ों को अपने जीवन में भी गौरवपूर्ण स्थान दें, जो भारतीय जनता की संस्कृति की अभिव्यक्ति का स्वाभाविक वाहन बन सकती हैं। सांस्कृतिक समता सब प्रकार की समताओं का प्रथम मूलाधार है। सामूहिक खेलों का सांस्कृतिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान

है। सांस्कृतिक समता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय ग्रामीण जनता के लोकप्रिय सामूहिक खेलों को उसके नेता माने जाने वाले व्यक्तियों के प्रिय खेलों में भी प्रथम स्थान प्राप्त हो।

भारतीय जनता के स्वदेशी खेलों के अन्वेषण, पुनरुद्धार, परिष्कार, सुधार, उन्नति, प्रगति, शिक्षण, प्रतिष्ठापन, अभ्यास, प्रसार आदि के कार्य के लिए भारतीय जनकोष की काफ़ी बड़ी धनराशि निर्धारित की जानी चाहिए और उन्हें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्रीडांगनों में भी गौरवपूर्ण स्थान दिलाने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिए। भारतीय खेलों का प्रश्न भारतीय संस्कृति के क्षेत्र का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसकी उपेक्षा लोकतंत्र में तो अब और अधिक न की जानी चाहिए।

मेलों के सांस्कृतिक विकास का प्रश्न

"मेला" शब्द का संस्कृत मूल "मेलक" बताया जाता है और इसका अर्थ कोशकारों ने 'भीड़भाड़ तथा देवदर्शन, उत्सव, तमाशे आदि के लिए बहुत से लोगों का एकत्र होना' बताया है।

किन्तु, इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ इसमें निहित है। अर्थतंत्र के इस युग में मेलों में होने-वाले क्रय-विक्रय के आयोजनों को भी काफ़ी महत्त्व दिया जाने लगा है और प्रचार-प्रकाशन की ओर बढ़ती हुई लोक-रुचि मेलों के साथ प्रदर्शनियों को भी अनेक अवसरों पर जोड़ने की आवश्यकता समझने लगी है।

मेलों का अस्तित्व उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मानवों की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो प्रतिदिन के कार्यों की एकरूपता से ऊबकर विशेष अवसरों पर जनसमूह के साथ मिलजुल कर विशेष आनन्द-उल्लास प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव करती है। मानवता की सामाजिकता की भावना मेलों की मूल प्रेरक शक्ति है, अतः युगों की समय-परिधि को लाँघकर भी मेले अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं।

मानव हृदयों, प्राणों तथा शरीरों को प्रफुल्ल करके उनमें ताज़गी उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति मेलों में है। इनसे

मनुष्यों की पिछले दैनिक कार्यों की थकान कम होकर उन्हें अगले दैनिक कार्यों के लिए नई शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय जनता को मेलों की सांस्कृतिक विरासत ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त हुई है। युगों के आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक शोषण ने भी जनता को इस सीमा तक हतोत्साह तथा निर्जीव नहीं बना दिया है कि वह अपने परम्परागत मेलों में दिलचस्पी लेना छोड़ दे। यह जनता की अक्षय तथा अपराजित सांस्कृतिक प्राणशक्ति का परिचायक है।

ग्रामीण क्षेत्रों के विभिन्न स्थानों पर सप्ताह के एक-एक निर्धारित दिन को लगने वाली हाटों की प्रमुख विशेषता तो जनता की दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय-विक्रय ही होती है, किन्तु, उनमें भी जन-सम्पर्क तथा सांस्कृतिक आयोजनों का नितांत अभाव नहीं होता। वर्ष के निर्धारित विशिष्ट अवसरों पर समय की निश्चित अवधि के लिए विशिष्ट स्थानों पर भरनेवाले मेलों का प्रधान प्रयोजन तो जन-सम्पर्क तथा सांस्कृतिक समारोह ही होता है, किन्तु, जनता की आवश्यकताओं के पदार्थों का क्रय-विक्रय भी उनका काफ़ी महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन जाता है।

भारत की कोटि-कोटि ग्रामीण जनता के जीवन में पर्व-त्यौहारों की भाँति ही मेलों का भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान है और मेलों के आयोजनों को उसने अपने हृदय के सांस्कृतिक रस से, अगणित अभावों के बीच भी, आज तक सरस बना रखा है।

किन्तु, इस कठोर सत्य से भी किसी भी दशा में इनकार

नहीं किया जा सकता कि जनता के आर्थिक अभावों का उसके स्वाभाविक सांस्कृतिक आयोजनों पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। एक का दैन्य दूसरे में काफ़ी हद तक स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। ग्रामीण क्षेत्रों के मेले ही भारत के बहुसंख्यक तथा प्रमुख मेले हैं और उनमें स्वाभाविक आनन्द, उल्लास और प्रफुल्लता की उचित मात्रा उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण जनता की आर्थिक अवस्था में भी पर्याप्त सुधार हो।

मेलों की सांस्कृतिक उन्नति तथा विकास का यह पहला ही क़दम हो सकता है कि शहरी मेलों में ग्रामीण चित्रकला, लोकगीत, लोकनृत्य, ग्रामीण खेलों आदि को सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाय। उनकी उन्नति का दूसरा क़दम तो यही हो सकता है कि ग्रामों की संस्कृति के उक्त महत्त्वपूर्ण अङ्गों को अपनी ग्रामीण भूमि ही में अपना स्वाभाविक विकास करने का पूरा अवसर दिया जाय।

जब कभी कहीं किसी नागरिक मेले के सम्बन्ध में यह घोषणा की जाती है कि उसे ग्रामोन्मुख बनाने का यत्न किया जायगा, तब उस घोषणा में सम्भवतः सदाशयता तथा ग्रामों के प्रति सहानुभूति तो होती ही है, किन्तु, एक प्रकार के सांस्कृतिक द्राविड़ी प्राणायाम की भी कुछ प्रवृत्ति नजर आती है। इसका कारण समझ में नहीं आता कि ग्रामीणों की रुचि के सांस्कृतिक उपादान उनके लिए उनके गाँवों ही में क्यों नहीं जुटाए जाते। उनके लिए उन्हें शहरों की दौड़ लगाने को क्यों प्रेरित किया जाता है?

ग्रामवासियों को अधिक सुविधा तो तभी हो सकती है, जब ग्रामीण संस्कृति के पौधों को ग्रामीण जमीन ही पर

बढ़ने और फूलने-फलने का पूरा अवसर दिया जाय। ग्रामवासियों की दृष्टि से यह अधिक सुविधाजनक नहीं है कि उन ग्रामीण पौधों की कलमें प्रदर्शन के रूप में शहरी ज़मीन-पर उगाई जायँ।

बहुसंख्यक ग्रामीण जनता के साथ उचित न्याय तो तभी हो सकता है, जब हमारे देश के सूत्रधारों की दृष्टि वास्तविक अर्थों में ग्रामों की ओर जाय और वे ग्रामीण क्षेत्रों में भरने-वाले मेलों के सांस्कृतिक विकास में भी अपनी उचित शक्ति लगायँ। इसके लिए देश के सूत्रधारों की दृष्टि का ग्रामोन्मुख होना आवश्यक है।

वे ग्रामीण कलाएँ, ग्रामसंस्कृति के उपकरण, ग्रामीण मनोरंजन के साधन इत्यादि, जिन्हें शहरों के मेलों में लाने-में अधिक धन व्यय करना पड़ सकता है, ग्रामों में कम ख़र्च ही में अधिक परिमाण में उपलब्ध और ग्रामीण जनता के लिए अधिक उपयोगी हो सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उन्हें सुयोजित तथा पुनर्गठित किया जाय और उन्हें विकसित करके ग्रामीण मेलों की सौष्ठववृद्धि के कार्यों में लगाया जाय।

वह दिन कितना शुभ और आनन्ददायक होगा, जिस दिन ग्रामसंस्कृति के बिखरे हुए और उपेक्षित अङ्गों को अपने ही क्षेत्र में सङ्गठन और पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होगा तथा इसके लिए देश के कर्णधारों की अधिकतम सक्रिय सहायता तथा सहयोग उन्हें मिल सकेगा। अब समय आ गया है कि गाँवों के गायकों और वादकों को एकत्र करके सुसंगठित किया जाय, उनकी कला को अधिक-से अधिक हार्दिक तथा आर्थिक प्रोत्साहन दिया जाय और

उनके अन्दर यह आत्म-जाग्रति और आत्म-प्रेरणा उत्पन्न की जाय कि उनके सहयोग से उनके गाँवों के आस-पास के क्षेत्रों में भरनेवाले मेले उनकी कला के द्वारा गौरवान्वित और श्रीसम्पन्न बनाए जा सकते हैं।

कितना अच्छा होगा वह दिन, जब ग्रामीण चित्रकारों द्वारा अपने ही क्षेत्र में प्राप्त होने वाली प्राकृतिक सामग्री-से वनाए जाने वाले सुन्दर चित्र तथा मूर्तियाँ आदि उन्हीं के निकट के ग्रामीण मेलों में प्रदर्शित होकर पुरस्कृत होंगी।

इसी प्रकार ग्रामीण कहानी कहने वालों, ग्रामीण लोक-गीतों और लोकनृत्यों के कलाकारों, ग्रामीण पहलवानों आदि की कलाओं और गुणों का भी ग्रामीण क्षेत्रों ही में विकसित किया जाना अधिक आवश्यक है और उनका अधिक अच्छा उपयोग उन्हींके आस-पास के ग्रामीण मेलों आदि में हो सकता है। इसीसे उनका उचित विकास हो सकता है।

देश की अधिकांश जनता ग्रामवासिनी है, अतः मेलों के सांस्कृतिक विकास का प्रश्न गाँवों के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है।

शहरों के मेलों और प्रदर्शनियों का भी महत्त्व है, किन्तु, उनका महत्त्व उसी अनुपात में समझा जाना चाहिए, जिस अनुपात में भारत की जनसंख्या में नगरवासियों का है।

इसके विपरीत, आजकल शहरी मेलों और प्रदर्शनियों-को अनुपात से बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है और देहाती मेलों की ओर उन लोगों की दृष्टि नहीं जाती, जिन-पर इस राष्ट्र के पुनर्निर्माण का भार है।

इस पर कोई गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करता कि शहरी मेलों की तड़क-भड़क और वैभव-विलास ग्रामीण मेलों की गरीबी, साधनहीनता तथा उपेक्षित अवस्था की उपस्थिति में देश की विषम आर्थिक व्यवस्था की ओर एक ममन्तिक इंगित करता है।

मेले सदा से रहते आए हैं और सदा रहेंगे। सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें उन्नति का अवसर मिले या न मिले, उनका अस्तित्व तो हमेशा रहेगा ही। उनकी अवस्था भले ही अनुन्नत हो, किन्तु, इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि देश की सांस्कृतिक उन्नति का एक मूल्यवान् मापदंड उन्हें सदा माना जाता रहा है और सदा माना जाता रहेगा।

मेलों की उपेक्षा जनता की एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा की उपेक्षा होगी, जिसे एक अक्षम्य अपराध ही समझा जायगा। उपेक्षा के इस लांछन से बचने के लिए इस देश के छोटे-बड़े सभी मेलों का पर्यवेक्षण किया जाकर उनका सही विवरण तैयार किया जाना आवश्यक है। इस दिशा में विशेष महत्त्व ग्रामीण क्षेत्रों में भरनेवाले मेलों को दिया जाना चाहिए।

इन मेलों में ग्रामीण जनता काफ़ी उत्साह और उमंग के साथ एकत्र होती है। ग्रामीण जनता ही इस देश की प्रमुख निर्मात्री और भाग्यविधात्री है। मितव्यय की कोई भी दलील इस बात में बाधक नहीं समझी जानी चाहिए कि ग्रामीण जनता को अपना प्राप्य अपने ही क्षेत्र में मिलना चाहिए।

शहरी क्षेत्रों में मेलों का आयोजन करने वाले अल्प-

उनके अन्दर यह आत्म-जाग्रति और आत्म-प्रेरणा उत्पन्न की जाय कि उनके सहयोग से उनके गाँवों के आस-पास के क्षेत्रों में भरनेवाले मेले उनकी कला के द्वारा गौरवान्वित और श्रीसम्पन्न बनाए जा सकते हैं।

कितना अच्छा होगा वह दिन, जब ग्रामीण चित्रकारों द्वारा अपने ही क्षेत्र में प्राप्त होने वाली प्राकृतिक सामग्री-से बनाए जाने वाले सुन्दर चित्र तथा मूर्तियाँ आदि उन्हीं के निकट के ग्रामीण मेलों में प्रदर्शित होकर पुरस्कृत होंगी।

इसी प्रकार ग्रामीण कहानी कहने वालों, ग्रामीण लोक-गीतों और लोकनृत्यों के कलाकारों, ग्रामीण पहलवानों आदि की कलाओं और गुणों का भी ग्रामीण क्षेत्रों ही में विकसित किया जाना अधिक आवश्यक है और उनका अधिक अच्छा उपयोग उन्हींके आस-पास के ग्रामीण मेलों आदि में हो सकता है। इसीसे उनका उचित विकास हो सकता है।

देश की अधिकांश जनता ग्रामवासिनी है, अतः मेलों के सांस्कृतिक विकास का प्रश्न गाँवों के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है।

शहरों के मेलों और प्रदर्शनियों का भी महत्त्व है, किन्तु, उनका महत्त्व उसी अनुपात में समझा जाना चाहिए, जिस अनुपात में भारत की जनसंख्या में नगरवासियों का है।

इसके विपरीत, आजकल शहरी मेलों और प्रदर्शनियों-को अनुपात से बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है और देहाती मेलों की ओर उन लोगों की दृष्टि नहीं जाती, जिन-पर इस राष्ट्र के पुनर्निर्माण का भार है।

इस पर कोई गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करता कि शहरी मेलों की तड़क-भड़क और वैभव-विलास ग्रामीण मेलों की गरीबी, साधनहीनता तथा उपेक्षित अवस्था की उपस्थिति में देश की विषम आर्थिक व्यवस्था की ओर एक मर्मान्तिक इंगित करता है।

मेले सदा से रहते आए हैं और सदा रहेंगे। सांस्कृतिक दृष्टि से उन्हें उन्नति का अवसर मिले या न मिले, उनका अस्तित्व तो हमेशा रहेगा ही। उनकी अवस्था भले ही अनुन्नत हो, किन्तु, इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि देश की सांस्कृतिक उन्नति का एक मूल्यवान् मापदंड उन्हें सदा माना जाता रहा है और सदा माना जाता रहेगा।

मेलों की उपेक्षा जनता की एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा की उपेक्षा होगी, जिसे एक अक्षम्य अपराध ही समझा जायगा। उपेक्षा के इस लांछन से बचने के लिए इस देश के छोटे-बड़े सभी मेलों का पर्यवेक्षण किया जाकर उनका सही विवरण तैयार किया जाना आवश्यक है। इस दिशा में विशेष महत्त्व ग्रामीण क्षेत्रों में भरनेवाले मेलों को दिया जाना चाहिए।

उन मेलों में ग्रामीण जनता काफ़ी उत्साह और उमंग के साथ एकत्र होती है। ग्रामीण जनता ही इस देश की प्रमुख निर्मात्री और भाग्यविधात्री है। मितव्यय की कोई भी दलील इस बात में बाधक नहीं समझी जानी चाहिए कि ग्रामीण जनता को अपना प्राप्य अपने ही क्षेत्र में मिलना चाहिए।

शहरी क्षेत्रों में मेलों का आयोजन करने वाले अल्प-

संख्यक नागरिक यदि यह आशा करें कि बहुसंख्यक ग्रामीण जनता शहरी मेलों में ग्रामीणों की सांस्कृतिक उन्नति के आयोजनों में भाग लेने ग्रामों से चलकर आयगी, तो यह किसी अंश तक उसका दंभ, दुरभिमान और दुराशा समझी जायगी। यदि गाँवों में रहने वाले इसे उलटी गंगा बहाना या उलटे बाँस बरेली ले जाना कहना चाहें, तो उन्हें इसके लिए दोष न दिया जा सकेगा।

ग्रामीण मेलों के पर्यवेक्षण तथा विवरणलेखन के कार्य-को शीघ्र पूर्ण करके उनके ग्रामीण क्षेत्रों के आसपास पाए जाने वाले ग्रामीण कलाकारों, पहलवानों, संगीतज्ञों, खिला-ड़ियों, दस्तकारों आदि का निकट सम्पर्क प्राप्त करके उनका विवरण भी शीघ्र ही तैयार किया जाना चाहिए।

उसके बाद इसे राष्ट्रहित की दृष्टि से चोटी की प्राथमिकता-का एक कार्य समझा जाना चाहिए कि उन ग्रामीण कलाकारों, संगीतज्ञों, खिलाड़ियों, पहलवानों, दस्तकारों आदि को अधिक-से अधिक हार्दिक तथा आर्थिक प्रोत्साहन दिया जाय, जिससे वे अपनी कला, गुण, निर्माणशक्ति आदि से अपने क्षेत्र के ग्रामीण मेलों को अधिक सरस, सजीव और श्रीसम्पन्न बनावें। साथ ही उन क्षेत्रों के ग्रामवासियों को भी प्रत्येक सम्भव उपाय से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे उन ग्रामीण गुणीजनों के कार्यों तथा ग्रामीण मेलों के आयोजनों में परम्परागत उत्साह की अपेक्षा अधिक उत्साह से भाग लें।

इस स्वाभाविक मार्ग ही से मेलों के सांस्कृतिक विकास-का प्रश्न हल हो सकेगा और मेलों का सांस्कृतिक विकास जनता के सांस्कृतिक विकास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन होगा।

किन्तु, इसके लिए शहरी मेलों की तड़क-भड़क के मोह-से मुक्त होने का नैतिक साहस प्रकट करना आवश्यक होगा। क्या यह आशा की जाय कि इस राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास-के व्रती लोकसेवक अपने में इस नैतिक साहस का अभाव प्रकट न करेंगे ?

राष्ट्रीय परिधान का प्रश्न

राष्ट्रीयता राष्ट्र की जनता की आन्तरिक और बाह्य एकता की भावना का नाम है। सांस्कृतिक एकता इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। भाषा, साहित्य, कला आदि संस्कृति के आन्तरिक अंग हैं और वेश-भूषा आदि वाह्य।

शायद कभी कोई युग ऐसा आ सकता है, जिसमें संसार के समस्त निवासियों की एक ही भाषा हो और एक ही वेश-भूषा। किन्तु, जब तक इस सीमा तक मानवता का विकास नहीं होता, तब तक कम से कम एक-एक राष्ट्र की एक-एक राष्ट्रभाषा और एक-एक राष्ट्रीय पोशाक तो होनी ही चाहिए।

यदि भारत को यूरोप की भाँति अनेक राष्ट्रों का समूह मानें, तब तो इसकी एक राष्ट्रभाषा तथा एक राष्ट्रीय परिधान का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु, यदि इसे एक राष्ट्र माना जाय, तो यह आवश्यक है कि इसकी एक राष्ट्रभाषा की भाँति ही इसका एक राष्ट्रीय परिधान भी हो।

भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या कुछ अंशों तक तो सुलझ चुकी है, किन्तु, वह कुछ अंशों तक अभी उलझी हुई है। सम्भव है, कुछ वर्षों के बाद वह पूर्णतया या अधिकांशतया, सुलझ सके। राष्ट्रभाषा की समस्या की भाँति ही भारत के

राष्ट्रीय परिधान की समस्या भी व्यावहारिक दृष्टि से तो अभी तक काफ़ी सीमा तक उलझी हुई ही प्रतीत होती है।

परिधान का प्रश्न एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न है और इसके समाधान का सम्बन्ध भी हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान से है।

राष्ट्रीय स्वाभिमान की दृष्टि से प्रत्येक भारतवासी का मस्तक उस समय लज्जा से नीचे झुक जाता है, जब किसी भी समझदार विदेशी से यह रहस्य छिपा नहीं रह पाता कि हम अपनी राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की चाहे जितनी डींग मारें, किन्तु, हम अपने देश में इस देश की किसी भाषा को अभी तक राष्ट्रभाषा का वह गौरव नहीं दे पाए हैं, जो अन्य स्वतंत्र देशों ने अपने देश की भाषा को दे रखा है। बौद्धिक दृष्टि से जो वर्ग भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व करने का दावा करता है, उसीमें बुद्धिमान् विदेशियों को वह दैन्य नज़र आता है, जो अँगरेज़ी-जैसी एक विदेशी भाषा के मोह के रूप में यत्र-तत्र प्रकट होता रहता है। उसी प्रकार उक्त वर्ग-को कोई भी आपादमस्तक अँगरेज़ी वेश-भूषा में चाहे जब देख सकता है।

भारत के बहुत-से विदेशी अतिथियों के पाखण्ड पर आश्चर्य होता है, जब भारत से लौटकर उन्हें भारत की प्रायः प्रशंसा ही करते देखा जाता है। उनमें प्रायः यह नैतिक साहस नहीं पाया जाता कि वे अपने देश में लौटकर वहाँ के पत्रों में स्पष्टवादिता के साथ यह लिखें कि वे भारत में यह देखकर दंग रह गए कि भारत के बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च समझे जाने वाले वर्ग के बहुत-से व्यक्तियों पर विदेशी भाषा और विदेशी वेश-भूषा का आज के स्वतंत्रता के युग में भी

लज्जाजनक प्रभाव है। यदि इस प्रकार बहुसंख्यक विदेशी अपने देशों के प्रतिष्ठित पत्रों में स्पष्टतापूर्वक वारवार लिखें, तो निःसन्देह भारत के अपने को बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च समझने-वाले वर्ग के बहुत से व्यक्तियों के स्वाभिमान पर कड़ी ठोकर लगे और वे वानरों तथा चंडूलों की भाँति वेश-भूषा तथा भाषा के सम्बन्ध में विदेशियों की नक़ल करना छोड़ दें।

वास्तव में यह कितनी बड़ी लज्जा की बात है कि जहाँ अन्य देशों के निवासी न केवल अपने ही देश में अपने देश-की भाषा और वेश-भूषा का प्रयोग करते हैं, वल्कि, अन्य देशों में भी सदैव केवल अपने ही देश की भाषा और परिधान का इस्तेमाल करते हैं, वहाँ भारत के अपने को बौद्धिक दृष्टि से उच्च समझने वाले बहुत-से व्यक्ति विदेशों-की बात तो दूर रही, अपने देश में भी अपने देश की भाषा और परिधान का सम्मान न करके विदेशी भाषा और विदेशी परिधान का सम्मान करते हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उन्हें अनावश्यक रूप में अँगरेज़ी भाषा बोलते और अँगरेज़ी पोशाक पहने देखा जाता है।

अब समय आ गया है कि भारत की राष्ट्रीय भाषा की भाँति ही भारत के राष्ट्रीय परिधान का भी अन्तिम तथा निश्चित रूप में निर्धारण हो और न केवल भारत में वल्कि भारत के बाहर भी प्रत्येक भारतीय भारत की राष्ट्रभाषा तथा भारत के राष्ट्रीय परिधान ही का प्रत्येक अवसर पर दृढ़तापूर्वक उपयोग करे। अन्यथा, स्वतंत्र हो जाने पर भी हम संसार के स्वाभिमानी तथा गम्भीर विचारकों की दृष्टि-में हास्यास्पद ही बने रहेंगे।

भारत के राष्ट्रीय ध्वज तथा राष्ट्रभाषा की भाँति ही

भारतीय राष्ट्रीय परिधान भी जब देश के साथ-साथ विदेशों के भी कोने-कोने में पहुँचेगा, तभी भारतीय संस्कृति की आत्मा के एक महत्त्वपूर्ण अंश का अपने वास्तविक स्वरूप में सर्वत्र व्यक्तीकरण हो सकेगा।

पराधीनता के युग में भी महात्मा गाँधी ने जो साहस प्रकट किया था, वह आज स्वाधीनता के युग में भी अनेक सुशिक्षित भारतीय प्रकट नहीं कर पाते। गाँधीजी भारतीय परिधान धारण करके ही इँग्लैंड गए थे और वह भी भारतीय किसान का सीधा-सादा परिधान, जो घुटनों तक की एक धोती तक ही सीमित था।

गाँधीजी के उस समय के परिधान से परतंत्र भारत के किसान की तत्कालीन वास्तविक स्थिति प्रकट होती थी, इसलिए उनका उस समय एक तथा अपर्याप्त वस्त्र धारण करके विदेश जाना पूर्णतया उचित था। किन्तु, आज भारत का राष्ट्रीय परिधान निर्धारित करते समय हमें भविष्य की दृष्टि से उसके स्थायित्व पर भी ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय परिधान आदर्श परिधान भी होना चाहिए। आज भले ही भारत का जनसाधारण अधनंगा हो, किन्तु, यदि हमें भारतराष्ट्र को विनाश से बचाना है, तो हमें निकट भविष्य ही में भारत के प्रत्येक निवासी के लिए पर्याप्त वस्त्रों की व्यवस्था करनी होगी, अतः, हम ऐसे किसी परिधान को भारत का राष्ट्रीय परिधान नहीं बना सकते, जो स्वतंत्र राष्ट्र के निवासियों के लिए आदर्श न हो, जिसमें पर्याप्त वस्त्र की व्यवस्था न हो और जिससे दरिद्रता या दीनता प्रकट होती हो। उसमें यदि आडंबर न हो, तो अभाव या दैन्य भी न हो।

भारत का राष्ट्रीय परिधान कैसा हो ?—यह एक अत्यन्त नाजुक, गम्भीर तथा विवादास्पद प्रश्न है। हमारे परिधान-की परिकल्पना पूर्णतया भारतीय होनी चाहिए। साथ ही उसमें कार्यक्षमता, सुविधा, चुस्ती, फुर्ती आदि के दृष्टिकोण से, अन्तर्राष्ट्रीय पैमानों के अनुसार, उचित और आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन भी किए जाने चाहिए। भारतीय संस्कृति-के प्रधान गुण सादगी का भी उसपर पूरा प्रभाव होना चाहिए।

यों तो स्वतन्त्र देश में इच्छानुसार खाने, पहनने आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को होनी चाहिए, किन्तु, भारतीय संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग के बाह्य प्रकटीकरण के उपकरण के रूप में बौद्धिक दृष्टि से सर्वोच्च समझे जानेवाले वर्ग द्वारा भारत के राष्ट्रीय परिधान ही को अधिकतम प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। भारतीय शासन-को भी राष्ट्रीय परिधान ही को शासकीय कार्यालयों के कर्मचारियों के लिए अनिवार्य बनाना चाहिए। इसका फल यह होगा कि क्रमशः सारी जनता अपने-आप उसका अनुसरण करने लगेगी।

यदि शासन ने अभी तक अंतिम रूप में उचित राष्ट्रीय परिधान निर्धारित न किया हो, तो, उसे वह शीघ्र ही निर्धारित कर लेना चाहिए। यदि निर्धारित कर लिया हो, तो उसके प्रचलन के सम्बन्ध में उचित दृढ़ता का परिचय देना चाहिए और यदि कुछ समय के अनुभव से उसमें कुछ त्रुटियाँ या परिवर्तनों की आवश्यकताएँ प्रतीत हुई हों, तो उन्हें शीघ्र पूर्ण कर लेना चाहिए।

यदि राष्ट्रीय परिधान का अंतिम निश्चय किया जाना

अभी बाक़ी हो, तो यथासम्भव प्रत्येक वर्ग तथा क्षेत्र से उसके सम्बन्ध में परामर्श किया जाना चाहिए।

सबसे परामर्श लेने के बाद अंतिम रूप में एक बार राष्ट्रीय परिधान का निर्धारण हो जाने पर उसके प्रचलन में शिथिलता का परिचय नहीं दिया जाना चाहिए। वह हमारी राष्ट्रीय दुर्वलता का परिचायक होगा।

अन्य अनेक देशों की भाँति अभी इस देश की स्थिति ऐसी नहीं है कि यहाँ पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान राष्ट्रीय परिधान की कल्पना की जा सके। अतः, पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए पृथक्-पृथक् राष्ट्रीय परिधानों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

सांस्कृतिक विकास के आंतरिक साधन भाषा, साहित्य, कला आदि का महत्त्व तो सर्वोपरि है, किन्तु, दूसरा स्थान वाह्य सामंजस्य के साधन राष्ट्रीय परिधान को दिया जाना अनिवार्य है। परिधान की एकता के विना हमारी राष्ट्रीय एकता की कड़ियाँ अधूरी और दुर्बल रहेंगी।

राष्ट्रीय परिधान के प्रचलन तथा सम्मान का अभाव भारत की एक सांस्कृतिक दुर्बलता और दैन्य के रूप में न केवल समझदार तथा भारतहितैषी विदेशियों ही को अखरता है, बल्कि, इस देश के गम्भीर चिंतनशील विचारकों-के मन पर भी हमारी इस राष्ट्रीय लज्जा का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। आशा है, हम शीघ्र ही अपनी इस महत्त्व-पूर्ण सांस्कृतिक समस्या का पूर्ण समाधान कर सकेंगे।

लोकसाहित्य और लोककलाओं का प्रश्न

लोकगीतों, लोककथाओं आदि के रूप में जो साहित्य तथा लोकनृत्य, लोकचित्रण, लोकनाट्य आदि के रूप में जो कला हमारे गाँवों में बिखरी पड़ी है, उसकी ओर जनता तथा जननेताओं का ध्यान अभी तक यथेष्ट रूप में आकृष्ट नहीं हो पाया है।

यद्यपि कुछ व्यक्तिगत तथा संस्थागत स्वरूप के प्रयत्न इसके पूर्व इस दिशा में हुए हैं, तथापि, राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक तथा सुव्यवस्थित प्रयत्नों का अभाव अभी प्रायः यथावत् ही है।

स्वाधीनताप्राप्ति के बाद के इस काल में यह स्वभावतः अत्यन्त आवश्यक समझा जा रहा है कि जनता में वास्तविक आत्मोपलब्धि की भावना जाग्रत हो और लोकसाहित्य तथा लोककलाएँ उसके उचित वाहन बनें।

ग्रामीण जनता युग-युग से अपनी आत्मा और हृदय में अपने स्वाभाविक सांस्कृतिक आनन्द तथा वेदना का जो पुलक-स्पन्दन अनुभव करती आ रही है, वही लोकसाहित्य और लोककलाओं में संचित है।

मुद्रण तथा साक्षरता के अभाव में हमारा यह राष्ट्रीय रत्नकोष जनता के हृदय, मन, कंठ तथा हाथों और पाँवों की उँगलियों आदि में छिपा रहा है। असह्य उपेक्षा के गर्त-

के नीचे भी किसी प्रकार यह आज तक जीता तथा बढ़ता चला आ रहा है।

शिक्षित और नागरिक जनता का उच्च कोटि की भाषा में लिखा हुआ जितना साहित्य आज मुद्रित रूप में उपलब्ध है, उससे कई गुना अधिक साहित्य आज निरक्षर ग्रामीण जनता-के भावुक हृदय और कंठ में निहित है।

चित्रकला का जितना वैभव आज शहरी चित्रकारों के चित्रों में नजर आता है, उससे कई गुनी अधिक समृद्धि उन ग्रामीण चित्रकार महिलाओं और पुरुषों के चित्रांकन में मौजूद है, जो ग्रामों में दीवारों, चौकों, पटों आदि पर चित्र बनाया करते हैं।

शहरी संगीतसम्मेलनों, नाटकों, सवाक्‌चित्रपटों आदि-में जो नृत्य दिखाए जाते हैं, उनमें वह स्वस्थ तथा स्वाभाविक उल्लास एवं भावना नज़र नहीं आती, जो ग्रामीण स्त्री-पुरुषों-के लोकनृत्यों में दिखाई देती है।

गाँवों के निवासी अपनी चौपालों, अलावों तथा घरों आदि में जो कहानियाँ आदि कहते हैं, उन लोककथाओं की निष्कपट स्वाभाविकता के आगे शहरी उपन्यास, कहानियाँ आदि काफ़ी फीकी, दुर्बल और अस्वस्थ नज़र आती हैं।

लोकसाहित्य तथा लोककलाओं का सर्जन पुराने ज़माने-से चला आ रहा है और आज भी जारी है। किन्तु, नव-युगपरिवर्तन के अनुरूप प्रतिष्ठा उसे अभी तक प्राप्त नहीं हो पा रही है।

बहुत पुराने ज़माने को छोड़कर इस देश में इधर के बहुत दिनों से सामंतवादी या साम्राज्यवादी शासन चला आ

रहा था। यह स्वाभाविक ही था कि लोकशासन के अभाव में लोकसाहित्य तथा लोककलाओं को उचित प्रतिष्ठा प्राप्त न हो।

किन्तु, अब तो देश में लोकशासन के अस्तित्व का दावा किया जा रहा है। ऐसी दशा में भी लोककलाओं और लोकसाहित्य को उनके उपयुक्त प्रतिष्ठा प्राप्त न होना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

संसार के अन्य लोकतंत्रशासनों में यद्यपि शहरी साहित्य तथा कलाओं की भी काफ़ी प्रतिष्ठा है, तथापि लोकसाहित्य तथा लोककलाओं को भारत की भाँति उपेक्षा का पात्र कदापि नहीं समझा जाता। किंबहुना, लोकसाहित्य तथा लोककलाओं के अन्वेषण, संरक्षण तथा प्रतिष्ठापन की दिशा में वे देश काफ़ी यत्नशील हैं।

केवल राजनीतिक लक्ष्य लेकर ग्रामीण जनता से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न सुरुचि का परिचायक नहीं है। सांस्कृतिक लक्ष्य लेकर भी इस देश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को नियमित जनसम्पर्क की साधना करनी चाहिए।

सांस्कृतिक सम्पर्क के इच्छुक विचारकों, साहित्यकारों, कलाकारों आदि के समूहों को शासन तथा जनता की ओर से उचित सुविधाएँ तथा साधन प्राप्त होने चाहिए कि वे ग्रामों में जाकर जनता से मिलें-जुलें। ग्रामीण जनता के लोकसाहित्य तथा लोककलाओं से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न करना जनता के हृदय और आत्मा से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न करना है। लोककलाओं तथा लोकसाहित्य को छूनेवाला सीधा लोकहृदय को छूता है। उन्हें समझने का यत्न करनेवाला जनता की आत्मा को समझने का यत्न करता है।

राष्ट्रीय स्तर पर देशभर में लोकसाहित्य तथा लोक-कलाओं के अन्वेषण, प्रोत्साहन, संग्रह, संरक्षण तथा प्रकाशन आदि का प्रयत्न व्यापक, गम्भीर तथा सुव्यवस्थित रूप में शीघ्र ही प्रारम्भ किया जाना चाहिए। इस काम में योग्य विशेषज्ञों के अतिरिक्त सामान्य संस्कृतिप्रेमी जनता तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासनों को भी पूर्ण सहयोग करना चाहिए।

इस कार्य की सफलता से अनेक महत्त्वपूर्ण लाभ होंगे। ग्रामीण जनता में आत्मोपलब्धि की भावना फैलेगी, शहरों-के कलाप्रेमियों को ग्रामीणों के हृदय तथा आत्मा के श्रेष्ठ सर्जन का परिचय तथा सम्पर्क प्राप्त होगा, गाँवों के उपेक्षित कलाकारों को राष्ट्र का स्नेह और सम्मान प्राप्त होगा तथा शहरी और देहाती जनता के बीच की खाई, कम से कम सांस्कृतिक स्तर पर तो, काफ़ी हद तक पट ही सकेगी।

इस कार्य में सबसे अधिक कठिनाई उसके विस्तार के कारण है। अगणित ग्रामीण भाषाओं के विभेदों के अव-गुंठनों में ग्रामीण जनता के हृदय और आत्मा के रूप में प्रचुर लोकसाहित्य छिपा पड़ा है। उनके सुख, दुख, हास, अश्रु, जीवन और मरण उनमें छिपे पड़े हैं। इस अवगुंठन-को उठाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक लोकगीत, लोककाव्य, लोककथा, लोकनाटक आदि को पहले अविकल और सम्पूर्ण रूप में उसकी अपनी ग्रामभाषा में लिपिबद्ध किया जाय और उसके बाद उसका सम्पूर्ण अनुवाद उसके मूल के साथ-साथ उस भाषा में प्रकाशित किया जाय, जिसे राष्ट्रभाषा हिन्दी कहा जाता है।

इस प्रकार देश के प्रत्येक राज्य के प्रत्येक गाँव की जनता-

की सांस्कृतिक आत्मा प्रत्येक भारतीय के लिए भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अभिव्यक्त तथा प्रकाशित की जा सकेगी।

लोकचित्रण, लोकनृत्य आदि के सम्बन्ध में भाषाभेद की कठिनाई नहीं है। उनके लिए अनुवाद, मुद्रण, प्रकाशन आदि के बदले संरक्षण, प्रदर्शन आदि की व्यवस्था के उचित साधनों की आवश्यकता है।

इन सब कठिनाइयों तथा आवश्यकताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए देश में लोकसंस्कृति के सम्बन्ध में नियमित रूप में कार्य करनेवाले एक विशेष विभाग की आवश्यकता प्रतीत होती है। जितने शीघ्र इस ओर सम्बद्ध व्यक्तियों तथा शक्तियों का ध्यान जायगा, उतना ही लोककल्याण होगा।

अशिव तथा अस्वस्थ यौन भावना के लगभग एकाधिकार के आक्रमण से आज शहरों का बहुत-सा साहित्य बहुसंख्यक सिनेमाघर आदि जिस प्रकार पीड़ित होते जा रहे हैं, वह राष्ट्र के स्वस्थचित्त विचारकों के लिए एक गम्भीर चिन्ता की बात बनती जा रही है। अखिलभारतीय रेडियो ने कुरुचिपूर्ण सिनेमासंगीत का बहिष्कार करके इस दशा के प्रतिकार की दिशा में जो एक निषेधात्मक क़दम उठाया, उसपर कई क्षेत्रों ने काफ़ी चिल्लपों मचाई। यह तो अच्छी बात है कि उस चिल्लपों से रेडियोमंत्रालय विचलित नहीं हुआ। किन्तु, केवल निषेधात्मक क़दमों से किसी समस्या का समाधान नहीं हुआ करता। उसके लिए रचनात्मक क़दमों की भी आवश्यकता हुआ करती है।

अखिलभारतीय आकाशवाणी के समस्त केन्द्रों को लोकगीत, लोककाव्य, लोककथा आदि में से सत्यम्, शिवम्

और सुन्दरम् के प्रतिनिधि अंशों को सावधानी से चुनकर उन्हें नियमपूर्वक अविकल रूप तथा प्रचुर परिमाण में प्रसारित करना तथा करते रहना चाहिए। यह उपर्युक्त दिशा में उसका एक अच्छा रचनात्मक क़दम होगा। प्रत्येक रेडियोकेन्द्र जहाँ अपने क्षेत्र की लोकभाषा के ऐसे साहित्य को विस्तार से केवल मूल रूप में प्रसारित कर सकता है, वहाँ उसे अन्य राज्यों की विभिन्न लोकभाषाओं के ऐसे साहित्य के चुने हुए अंशों को संक्षेप में राष्ट्रभाषानुवाद के साथ भी प्रसारित करना चाहिए। इससे हमें भारतराष्ट्र के एकात्मभाव का बोध होगा।

इसी प्रकार लोकनृत्यों तथा लोकनाट्यों को उस भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच पर उचित सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए, जिसका निर्माण शीघ्र ही होना चाहिए और जिसके निर्माण के बिना देश का सांस्कृतिक विकास अत्यन्त कठिन है।

राष्ट्रीय रंगमंच की भाँति राज्यों के अपने प्रादेशिक रंगमंच भी शीघ्र ही स्थापित होने चाहिए और उनपर भी लोकनृत्यों, लोकनाट्यों आदि को प्रचुर परिमाण में तथा पर्याप्त प्रतिष्ठित स्थान मिलना चाहिए।

सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि मृग की नाभि में छिपी हुई कस्तूरी की भाँति ग्रामीण जनता में छिपे हुए लोकसाहित्य तथा लोककलाओं को गाँवों में जा-जाकर स्वयं ग्रामीण जनता के सामने अपने अविकल किन्तु व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाय। अन्यथा, ग्रामीण जनता स्वयं भी अपने लोकसाहित्य और लोककलाओं को धीरे-धीरे भूल जायगी और वह उसके

सांस्कृतिक जीवन के एक बड़े अंश का विनाश होगा। यह भी आवश्यक है कि विशेष प्रोत्साहन लोकसाहित्य और लोककलाओं के ऐसे अंशों को दिया जाय जो जीवनप्रद, सत्प्रवृत्तिप्रेरक तथा स्वस्थ हों। ऐसे अंशों की कमी नहीं है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि उनके अविकल स्वरूप को क़ायम रखा जाय। यह दूसरी बात है कि प्रदेशभेद तथा भाषाभेद की दृष्टि से आवश्यकतानुसार राष्ट्रभाषानुवाद की यथेष्ट सहायता ली जाय।

लोकसाहित्य और लोककलाओं की रक्षा, प्रसार तथा उन्नति का प्रश्न देश का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न है और उसे राष्ट्र का अधिक से अधिक ध्यान अपनी ओर खींचने का स्वाभाविक अधिकार है।

सिनेमा-उद्योग का राष्ट्रीयीकरण

अब इस देश में समाचारपत्रों के पाठकों को ऐसे विज्ञापन पढ़कर आश्चर्य नहीं होता कि अमुक सिनेमा-फ़िल्म के निर्माण में लगभग एक करोड़ रुपया ख़र्च हुआ। आए दिन पत्रों में यह भी पढ़ने को मिलता है कि अमुक सिनेमा-अभिनेत्री या अभिनेता की मासिक आय लगभग एक लाख या पचास हज़ार रुपए है। सिनेमा-फ़िल्म-निर्माण-कम्पनियों के स्वामियों को होनेवाले लाभ की गणना भी लम्बी धनराशियों में प्रायः हुआ करती है। इन धनराशियों की विपुलता को जब इस देश की साधारण जनता के जीवन के आर्थिक स्तर की हीनता से मिलाकर देखा जाता है, तब एक भारी विषमता का अनुभव होता है। यह विषमता और भी असह्य हो जाती है, जब यह देखा जाता है कि इस देश की राष्ट्रनिर्माणकारी योजनाओं के लिए पर्याप्त धन प्राप्त होने में कठिनाई होती है।

अनियंत्रित आय या लाभप्राप्ति की प्रवृत्ति यों तो प्रत्येक उद्योग के क्षेत्र में निन्दनीय समझी जाती है, किन्तु, संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले उद्योग के क्षेत्र में तो उसकी निन्दनीयता की पराकाष्ठा हो जाती है।

अब इस देश में सिनेमा-फ़िल्मों के निर्माण के उद्योग का विकास एक बड़े और केन्द्रित उद्योग के रूप में हो चला है।

चूँकि इस उद्योग का सम्बन्ध राष्ट्र की जनता के चारित्र्य पर प्रभाव डालने वाली प्रेरकशक्तियों से, संस्कृति, कला, साहित्य, मनोरंजन इत्यादि से, है, इसलिए प्रत्येक जनसेवक-का ध्यान इसकी ओर जाना स्वाभाविक होना चाहिए।

इस देश के नैतिक मूल्यों को महत्त्व देनेवाले अनेक मनीषी लोकसेवक अब सिनेमा-उद्योग के राष्ट्रीयीकरण की आवाज़ उठाने लगे हैं। किन्तु, उनकी आवाज़ में जितना बल हैं, उससे कहीं अधिक प्रबल बाधाएँ उसके मार्ग में हैं।

साहित्य, संगीत, चित्रकला, नृत्य, अभिनय, व्यापार और उद्योग, इन सबका अपने-अपने क्षेत्र में अलग-अलग उल्लेखनीय महत्त्व है। सिनेमा-उद्योग में इन सबका एक साथ समावेश हो सकता है, अतः, उसका महत्त्व और भी अधिक माना जा सकता है।

इनके अतिरिक्त सिनेमा-फ़िल्म-निर्माण-उद्योग के अनेक प्रतिष्ठानों में येन केन प्रकारेण अधिक से अधिक धन कमाने-की असत्प्रवृत्ति का भी समावेश है और यह प्रवृत्ति उनमें प्रायः सर्वोपरि स्थान पर प्रतिष्ठित है। इस प्रवृत्ति के कारण उक्त प्रतिष्ठानों में प्रायः अभिनय, साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि समस्त कलाओं का एक साथ अत्यन्त विकृत रूप में विनियोग होता है। उनमें धनप्राप्ति का सबसे अधिक अचूक साधन मनुष्य की यौन प्रवृत्ति को उभारना समझा जाता है और प्रायः इसी कार्य में उक्त समस्त कलाओं को लगाया जाता है।

संस्कृति को राष्ट्र की जीवनशिराओं का रक्त या प्राण-वायु समझा जाता है और साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि-को संस्कृति का अमर स्रोत। संस्कृति के ये स्रोत सिनेमा-

उद्योग के अनेक प्रतिष्ठानों द्वारा आजकल प्रायः इसलिए विषाक्त और विकृत किए जा रहे हैं कि उनके द्वारा जनता-की यौन प्रवृत्तियों को उभारकर उसके धन का शोषण किया जा सके।

स्वास्थ्य देकर धन का शोषण करनेवाला उद्योग भी जब स्वतंत्र देश में प्रशंसनीय नहीं समझा जा सकता, तब मानसिक, आत्मिक और शारीरिक अस्वास्थ्य देकर जनता-का धन छीननेवाले उद्योगों की तो अधिक से अधिक निन्दा होनी ही चाहिए।

लोकतंत्र में आलोचना के प्रायः दो मुख्य साधन होते हैं। एक तो सामयिक पत्र और दूसरा सभामंच। अनेक सामयिक पत्र अब बड़े उद्योग का स्वरूप ग्रहण कर चुके हैं और उनके जीवन का एक प्रमुख आधार विज्ञापन बन गया है। विज्ञापनों में एक बहुत बड़ा अंश सिनेमा-सम्बन्धी विज्ञापनों का होता है। सम्भवतः, विज्ञापनों से होनेवाले लाभ का मोह न छोड़ सकने के कारण ऐसे अनेक पत्र जनहित की दृष्टि से सिनेमा-फ़िल्मों की खरी आलोचना नहीं कर पाते।

सभामंचों पर आजकल अधिकतर राजनीति का अधिकार है। उनपर राजनीति के सिवा किसी अन्य विषय-के लिए स्थान की गुंजाइश प्रायः नहीं होती। राजनीति के क्षेत्र में संस्कृति के नैतिक मूल्यों पर अधिक ज़ोर देने वाले नेताओं की संख्या भी आजकल अधिक नहीं है। इसलिए, सभामंचों से भी सिनेमा-फ़िल्मों की यथोचित आलोचना नहीं हो पाती। किंबहुना, वहाँ इसे एक उपेक्षित विषय माना जाता है।

ऐसी स्थिति में विकृत, अस्वस्थ, असंस्कृत तथा हीन यौन-भावनाओं को उभारने वाली या अवास्तव का चित्रण करने-वाली अनेक सिनेमा-फ़िल्मों के द्वारा जनता का नैतिक और आर्थिक शोषण अबाध गति से हो रहा है और इस विष के घर-घर में फैलते जाने के कारण हमारे नवोदित लोकतंत्र-की नैतिक और सांस्कृतिक आधारशिला कमज़ोर होती जा रही है। एक अत्यन्त कुरुचिपूर्ण वातावरण बनता जा रहा है।

एक जीवित राष्ट्र की जनता की सांस्कृतिक चेतना को अनुप्राणित, प्रेरित एवं विकसित करने तथा उसे स्वस्थ मनोरंजन देने की आवश्यकता उसके जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति का दायित्व स्वयं राष्ट्र को ग्रहण करना चाहिए। उसे प्रायः सिद्धान्तहीन तथा धनलोलुप समझे जा सकनेवाले पूँजी-पतियों को सौंप रखना प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त अनुचित है।

सिनेमा-फ़िल्म-निर्माण-उद्योग राष्ट्र की उक्त आवश्यकता-की पूर्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हो सकता है और उसका राष्ट्रीयीकरण जितनी शीघ्रता से किया जायगा, उतना ही राष्ट्र की जनता का हित होगा।

सार्वजनिकस्वास्थ्यरक्षाविभाग का राष्ट्र के हाथ में होना जनता के शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जितना आवश्यक है, जनता के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सिनेमा-उद्योग-का राष्ट्र के हाथ में होना उतना ही आवश्यक है। हैज़ा या प्लेग फैलने पर जितने ज़ोरों से उक्त रोगों के कीटाणुओं पर आक्रमण करना राष्ट्र अपना कर्त्तव्य समझता है, उतने ही ज़ोरों से सिनेमा-उद्योग के अनेक प्रतिष्ठानों पर छाए हुए

विकृत तथा हीन कोटि की यौन भावनाओं के प्रोत्साहन के कीटाणुओं पर आक्रमण करना राष्ट्र का एक पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिए।

नए लोकतंत्र की प्रगति की प्रमुख प्रेरकशक्ति साहस हुआ करता है। यों तो आज भारत के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र-में साहस से काम लेकर प्रगति का पथ अविलम्ब प्रशस्त करने की आवश्यकता है, किन्तु, इसके सिनेमा-फ़िल्म-निर्माण-उद्योग के राष्ट्रीयीकरण की दिशा में तो शीघ्र ही अधिक से अधिक साहस से काम लेने की विशेष आवश्यकता है। यदि हमारे राष्ट्र ने इस आवश्यकता की पूर्ति की निरंतर उपेक्षा की, तो वह नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को एक दिन एक कंकाल-मात्र पाएगा।

असंयत, हीन तथा विकृत यौन भावना के प्रोत्साहन के दोष की भाँति ही एक और भी भारी दोष अनेक सिनेमा-फ़िल्मों में देखने को मिलता है। उनके निर्माता यह भूल जाते हैं कि चित्रपटकला का प्राण वास्तविक तथा स्वाभाविक चित्रण होता है। वे अपनी बहुत-सी फ़िल्मों में प्रायः निरन्तर अवास्तव तथा अस्वाभाविक का चित्रण किया करते हैं। ऐसी फ़िल्मों को देखकर विदेशी लोग एक ऐसे भारत-की कल्पना कर सकते हैं, जिसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। यदि उन चित्रपटों से वे भारत का मूल्यांकन करें, तो वे इसे एक अत्यंत भ्रष्ट तथा वास्तविकताविमुख देश समझेंगे।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि भारत के कलाजगत्-की आदर्श नारी क्या वह हो सकती है, जो अपने यौवन का प्रथम चरण सम्भवतः वेश्यावृत्ति के से वातावरण में बिताने के

वाद अधिक धन कमाने की महत्त्वाकांक्षा से सिनेमा-अभिनेत्री बनकर निर्लज्जतापूर्वक अपने अंगों तथा कुरुचिपूर्ण हावभावों-के प्रदर्शन से जनता के परिश्रम की कमाई के धन का शोषण करे और साथ-साथ प्रसिद्धि भी प्राप्त करे? यदि नहीं, तो ऐसी अनेक नारियों को प्रोत्साहन देनेवाली फ़िल्मों को अपने अन्दर सहन करनेवाले उद्योग को स्वच्छन्द और अबाध रूप में चलने देना किस दृष्टि से राष्ट्र के लिए हितकर कहा जा सकता है?

यह कहा जा सकता है कि बहुत-सी फ़िल्में ऐसी भी होती हैं, जो ऐसे आदर्श की प्रेरक नहीं होतीं। यह सच हो सकता है। किन्तु, राष्ट्रीयीकरण से अच्छे आदर्शोंवाली फ़िल्मों-की परम्परा को तो कोई हानि नहीं पहुँच सकती। वह तो उस दशा में भी बराबर जारी रहेगी। अन्तर केवल यह होगा कि उनका निर्माण पूँजीपतियों के हाथ से निकलकर राष्ट्र के हाथ में आ जायगा और उसे और अधिक प्रगति और शक्ति प्राप्त होगी। दूसरी ओर ऐसी सारी फ़िल्मों का अस्तित्व बिलकुल नष्ट कर दिया जा सकेगा, जो सत्य, शिव और सुन्दर के सुरुचिपूर्ण स्तर से किसी भी दृष्टि से गिरी हुई हों।

यदि रेडियोप्रसारण का अधिकार आज राष्ट्र के हाथ-में न होकर अर्थलोलुप पूँजीपतियों के हाथ में होता, तो सम्भवतः हमारा हर घर हीन, विकृत, असंस्कृत तथा असंयत यौन भावना के प्रचार का निरंतर नरककुण्ड बनता चला जाता और उससे जनता को सांस्कृतिक प्रेरणा और स्वस्थ मनोरंजन क़तई कभी नहीं मिल पाता।

रेडियोप्रसारण की भाँति ही यदि सिनेमा-फ़िल्मों के

निर्माण का उद्योग भी राष्ट्र पूर्णतया अपने ही हाथ में ले ले, तो भारत के जीवन के वास्तविक, स्वाभाविक तथा सुरुचिपूर्ण चित्र भारत की जनता को प्रायः देखने को मिलें और भारतीय नाट्य, संगीत, चित्रकला, नृत्यकला आदि का सुसंस्कृत आनन्द एवं स्वस्थ मनोरंजन भारतीय जनता को प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो सके।

जनमत की प्रेरणा से भविष्य में फ़िल्म-सेंसर की सख़्ती चाहे जितनी बढ़े, वह केवल नकारात्मक कार्य ही कर सकती है अर्थात् चित्रपटों के गन्दे अंशों को दृढ़ता से कटवा ही सकती है। वह नवनिर्माण का क्रांतिकारी तथा लोकहितकर रचनात्मक कार्य नहीं करवा सकती। वह सुरुचिपूर्ण, कलापूर्ण, वास्तवसंगत, स्वाभाविक तथा सत्य, शिव और सुन्दर के प्रेरक चित्रपटों का निर्माण प्रचुर मात्रा में नहीं करवा सकती। इसके लिए तो राष्ट्र को सम्पूर्ण सिनेमा-उद्योग को अधिकृत करके स्वयं ही चलाना होगा। संस्कृति के इस अंग का साहसपूर्ण नवनिर्माण करना होगा।

उसी दशा में ऐसे चित्रपट बड़ी संख्या में बन सकेंगे, जिन्हें देखकर सामान्य जनता की भाँति ही इस देश के उच्चादर्शप्रवण नेता और मनीषी विचारक भी सन्तुष्ट और प्रसन्न हो सकें।

किसी करोड़पति फ़िल्मनिर्माता की प्रेमपात्री होने के कारण अभिनेत्री, उसके चाटुकार होने के कारण कथाकार और गीतकार तथा उसके कृपापात्र होने के कारण निर्देशक बन सकना प्रायः कल्पना के बाहर की चीज़ होंगे उस फ़िल्म-उद्योग में, जिसका सुयोजित संचालन राष्ट्र स्वयं करेगा।

सम्पूर्ण राष्ट्रीयीकरण के बाद क्रमशः उन्नति करके इस देश के सिनेमा-उद्योग का स्वरूप किसी दिन ऐसा हो सकता है कि उसकी अन्तरात्मा के दिशादर्शक इस देश के नैतिक-उच्चादर्श-सम्पन्न मनीषी नेता हों, उसके कलानिर्देशक आचार्य नन्दलाल वसु जैसे चारित्र्यवान् तथा रससिक्त चित्रकार हों, संगीतनिर्देशक पलुसकर तथा भातखंडे की कोटि के संगीताचार्य हों और कथाकार और गीतकार वे लोग हों, जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे साहित्यकारों के आदर्शों का अनुसरण करते हुए इस देश की साहित्यिक प्रतिभा का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकें।

संस्कृति के विविध क्षेत्रों में कला तथा मानवता के हित की दृष्टि से अथक कार्य करनेवाले चारित्र्यवान् तथा प्रतिभाशाली साधकों की प्रतिभा का सदुपयोग हमारा राष्ट्र सिनेमा-उद्योग के राष्ट्रीयीकरण के द्वारा काफ़ी बड़े अंश में कर सकता है। जिस ग़रीब भारतीय जनता ने चार-चार आने देकर अनेक पूँजीपति फ़िल्मनिर्माताओं की तिजोरियाँ भर दी हैं, वही राष्ट्र का उचित नेतृत्व मिलने पर तथा कुरुचिपूर्ण फ़िल्मों का निर्माण क़तई बन्द हो जाने पर राष्ट्रीयीकृत सिनेमा-उद्योग का प्रगतिशील नवनिर्माण कर सकती है। जनता के श्रम की उसी कमाई से अयोग्य, चाटुकार तथा भ्रष्ट आचरणवाले व्यक्तियों के बदले वास्तविक कलाकारों को चारित्र्य, योग्यता तथा न्यायभावना के आधार पर सम्मान और सुविधापूर्वक जीवनयापन करने के पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और उन साधनों के सहारे वे लोग न केवल सुरुचिपूर्ण चित्रपट-उद्योग ही की प्रगति में भाग ले सकते हैं, बल्कि, समूचे राष्ट्र का जीवन के हर क्षेत्र में सांस्कृतिक दृष्टि से स्वस्थ नवनिर्माण कर सकते हैं।

आज चित्रपटकला के जो अनेक स्रोत राष्ट्र की धमनियों में विष प्रवाहित करके राष्ट्र को नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मरणासन्न बनाने में लगे हुए हैं, वही राष्ट्रीयीकरण के द्वारा नया जीवन पाकर राष्ट्र की रक्तशिराओं में सम्भवतः संस्कृति का अमृत प्रवाहित करने लगेंगे।

यह अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि इस देश के कुछ प्रगतिशील तथा चारित्र्यवान् विचारक सिनेमा-फ़िल्म-उद्योग के राष्ट्रीयीकरण की आवाज़ उठाने लगे हैं। देश के प्रत्येक सद्भावनासम्पन्न विचारक का यह कर्त्तव्य है कि वह उनकी आवाज़ को इतना बल पहुँचावे कि हमारे राष्ट्र में सिनेमा-उद्योग के राष्ट्रीयीकरण का साहस जाग्रत हो। देश की इस सांस्कृतिक समस्या के समाधान का और कोई कारगर उपाय नहीं है। हमारी विनम्र सम्मति में अब मर्ज़ लाइलाज हो चुका है और घर-घर में घर कर चुका है। इसे ज्यों-का-त्यों चलने देने में राष्ट्र का नैतिक और सांस्कृतिक विनाश अवश्यम्भावी है।

संगीत की शब्दावलि में परिवर्तन की आवश्यकता

जिन कारणों से मनुष्य पशु से भिन्न है, उनमें संस्कृति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य होने के कारण मनुष्य को जिन सूक्ष्म वेदनाओं से पीड़ित होना पड़ता है, उनका निराकरण भी काफ़ी अंश तक संस्कृति ही के द्वारा होता है।

संगीत संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः, मानव-जीवन में संगीत का एक विशिष्ट स्थान है।

ऋषियों के आश्रमों और शासकों के भवनों से लेकर खेतों, मैदानों और झोंपड़ियों तक में संगीत को समान प्रश्रय मिलता आया है।

नृत्य और वाद्यसंगीत को कुछ ध्वनियों की भले ही कुछ आवश्यकता पड़ती हो, किन्तु उन्हें सार्थ शब्दों की अपेक्षा नहीं रहती। कंठसंगीत सार्थ शब्दों का भी सहारा लेता है। यह दूसरी बात है कि उच्च कोटि के भारतीय कंठसंगीत में शब्द स्वरों में इतने डूबे रहते हैं कि उनका स्वरूप श्रोताओं-से अधिकतर छिपा रहता है।

अत्यन्त प्राचीन भारतीय संगीत के स्वरूप का आज के संगीतज्ञों को प्रायः ज्ञान नहीं है। आज जो संगीत उच्च कोटि के हिन्दुस्तानी संगीत के रूप में प्रचलित है, उसके राग- रागिनियाँ आदि अत्यंत प्राचीन न होते हुए भी काफ़ी

प्राचीन हैं, पर, उसके गानों की शब्दावलि अधिक पुरानी नहीं प्रतीत होती।

जिन दिनों ब्रजभाषा भारत के बहुत बड़े भाग की कविता की भाषा थी और न केवल उत्तर, अपितु दक्षिण, पूर्व और पश्चिम के कतिपय संत भी अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी पदरचना किया करते थे, उन दिनों इस देश के बहुत बड़े भूभाग के निवासियों के कंठ-संगीत की शब्दावलि का स्थान स्वभावतः ब्रजभाषा की शब्दावलि ने ग्रहण कर लिया था।

विभिन्न प्रदेशों के गायक राग-रागिनियों के पुराने स्वरूपों-की तो किसी सीमा तक रक्षा कर सके, पर, ब्रजभाषा से अपरिचित होने के कारण, उनकी शब्दावलियों को किसी हद तक क्रमशः विकृत करते गए।

श्री भातखंडे तथा श्री पलुसकर के पूर्व हिन्दुस्तानी कंठ-संगीत प्रायः एक कंठ से दूसरे कंठ की परम्परा द्वारा ही जीवित रहता आया था, उसे स्वरलिपि तथा शब्दों में बँधकर कागज़ पर छपने का अवसर प्रायः नहीं मिला था, इसलिए, उसके शब्दों के विकृत स्वरूप की ओर उस समय तक साहित्यज्ञों का ध्यान न जा सका।

यदि उस ओर उनका ध्यान जाता भी, तो भी, परम्परा के दृढ़ भक्त गायकगण अपने प्रिय गानों की स्वरयोजना की भाँति ही शब्दयोजना में भी अणुमात्र भी परिवर्तन करने देने को तैयार नहीं होते।

महात्मा गाँधी और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब इस देश की जनता के जीवन में नवीन परिवर्तन का महान् उपक्रम किया, तब उनका प्रयास केवल राजनीति ही

के क्षेत्र तक सीमित न रह सका, उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग को छूने का यत्न किया। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उन्होंने नवजीवन लाने की चेष्टा की। संगीत भी उनके क्रांति-क्षेत्र के बाहर न रहा।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो स्वयं कवि होने के कारण भारतीय कंठसंगीत को सुन्दर, मधुर, सरल और परिष्कृत बँगला भाषा की सुरुचिपूर्ण शब्दावलि प्रदान की। धीरे-धीरे प्रत्येक बँगला-भाषा-भाषी घर में रवीन्द्रसंगीत अपने पूर्ण स्वर-वैभव के साथ-साथ कवित्व-युक्त एवं सुरुचिपूर्ण शब्द-वैभव से भी युक्त होकर गूँजने लगा।

महात्मा गाँधी स्वयं कवि तो नहीं थे, किन्तु, संतों के व्रज-भाषा, अवधी आदि के पदों के प्रति उनके मन में आदर था। उन्होंने अपने आश्रम के संगीताचार्य स्वर्गीय नारायणराव खरे से प्रत्येक राग-रागिनी के अन्तर्गत संतों के सुरुचिपूर्ण, सुन्दर और मधुर पदों का संग्रह कराकर पुस्तकाकार प्रकाशित कराया।

इससे यद्यपि पुराने तथा उच्च कोटि के हिन्दुस्तानी संगीत की शब्दावलि में कुछ परिवर्तन हुआ, तथापि, खानदानी संगीत के बहुत से पुराने उस्तादों और उनकी शिष्यमंडली ने अपने गानों में प्रायः उन्हीं शब्दों को क़ायम रखा, जिनका शायद वे अर्थ भी नहीं समझते, जो धीरे-धीरे अत्यन्त अस्पष्ट और विकृत हो चुके हैं और जो आज के युग में सुरुचिपूर्ण भी नहीं समझे जा सकते।

पुरातन संगीत को अधिक से अधिक कठिन तथा अपने ही तक सीमित बनाए रखने के प्रयास में अनेक उच्चकोटि के पुराने गायक आज भी स्वरलिपिअङ्कन को घृणा की दृष्टि से

देखते हैं। उनकी धारणा है कि वास्तविक संगीत तो वही है, जो गुरु के चरणों में बरसों तक बैठकर कंठ से कंठ के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में इस धारणा को उचित नहीं समझा जाता। स्वरलिपिलेखन-के विशेषज्ञों का कथन है कि स्वर या ताल का ऐसा कोई स्वरूप या मोड़ नहीं हो सकता, जिसके लिए कोई-न-कोई चिह्न निर्धारित न किया जा सके। उनका कथन है कि इस प्रकार कठिन से कठिन उस्तादी और पुराने संगीत को भी स्वरलिपिबद्ध करके संसार में सरलता से प्रचारित किया जा सकता है, बशर्ते कि उस्ताद लोग अपना दुराग्रह छोड़कर अपने प्रिय गानों को स्वरलिपिबद्ध कराने को तैयार हो जायँ और यह भय छोड़ दें कि इससे उनकी रोज़ी का साधन नष्ट हो जायगा।

स्वरलिपिअङ्कन के विधि-निषेध का यह विवाद भले ही दीर्घकाल तक चलता रहे, इससे स्वरलिपिकारों का उत्साह भंग नहीं हो रहा। वे अपना काम करते जा रहे हैं।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भारतीय संगीत की परम्परा-को ग्रहण करते हुए तथा उसमें स्वयं भी उचित परिष्कार, आविष्कार और अन्वेषण करते हुए जिन गानों का सर्जन करते थे, उनकी स्वरलिपि भी वह स्वयं ही, अपने आश्रम के संगीताचार्यों की सहायता से, निर्धारित करा देते थे। फल यह होता था कि भारतीय संगीत का उच्चतम वैभव रवीन्द्रनाथ-के अर्थगर्भ और मधुर शब्दों के मणिकांचन-सहयोग से उनके गानों के रूप में सारे देश के बँगलाभाषाभाषी घरों में उनकी स्वरलिपियों के सहारे ठीक उसी रूप में ध्वनित हो उठता था, जिस रूप में रवीन्द्रनाथ उसे ध्वनित करना चाहते थे।

सम्भवतः बापूजी के प्रिय संगीताचार्य स्वर्गीय श्री नारायणराव खरे की प्रेरणा से श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी पुराने गानों की रागरागिनियों को हिन्दी के नए और सुरुचिपूर्ण शब्द देने का यत्न किया था। पर, उनके उस महत्त्वपूर्ण कार्य का उचित मूल्यांकन करके उसे देश ने उचित प्रोत्साहन नहीं दिया।

गाँधीजी की मनोवेदना इस बात पर आधारित थी कि संगीत को केवल मुट्ठी-भर धनिकों के भवनों तक तो सीमित नहीं रखा जा सकता, उसे सर्वसाधारण के घरों और कुटियों तक पहुँचाने की आवश्यकता है और वहाँ परिवार की बालिकाओं, महिलाओं, बालकों और पुरुषों, सब को सम्मिलित रूप में संगीत के सम्पर्क में आना पड़ेगा; ऐसी दशा में पुराने उस्तादी गानों की बहुत सी कुरुचिपूर्ण शब्दावलि कैसे व्यवहृत की जा सकती है ?

बापू की यह मनोवेदना आज भी सांस्कृतिक क्षेत्र के अनेक सुरुचिपूर्ण विचारकों की मनोवेदना बनी हुई है।

स्वरलिपिअङ्कन के इस युग में जब उच्च कोटि के हिन्दुस्तानी संगीत के कुछ प्रसिद्ध पुराने गानों के शब्दों को मुद्रित रूप में सामने लाया जाता है, तब भले घरों में उनका प्रवेश स्वभावतः संकोच की सृष्टि करता है। जब माता, पिता, भाई, बहन, पुत्रवधू आदि सब मिलकर पारिवारिक गोष्ठी में संगीत का एक साथ सात्त्विक आनन्द लेना चाहते हैं, तब सुन्दर राग-रागिनियों के साथ मिलकर असुन्दर, निरर्थक और कुरुचिपूर्ण पुराने शब्द उनके सामने आते हैं। इससे स्वभावतः परिवार लज्जा से सिर झुकाने को बाध्य होता है। उस समय यह सिद्धान्त उन्हें संतुष्ट करने में समर्थ नहीं

होता कि संगीत का प्राण स्वर है, उसमें शब्दों का कोई महत्त्व नहीं है और गान सुनते समय शब्दों की ओर ध्यान ही न दिया जाना चाहिए, केवल स्वर, ताल आदि की ओर ही ध्यान देना चाहिए।

नटराज शंकर को भारतीय संगीत का प्रतीक माननेवाले कुछ पुराने गायक यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार शिव अपनी वेश-भूषा की ओर बिलकुल लापरवाह बताए जाते हैं, उसी प्रकार संगीत के भी केवल स्वर, ताल आदि-को देखना चाहिए, उसके शब्दों की पूर्ण उपेक्षा की जानी चाहिए। शब्दों की सार्थकता तो स्वरों में इस सीमा तक डूब जाने में समझी जानी चाहिए कि उनके अस्तित्व का श्रोता को अनुभव ही न हो।

दूसरी ओर सुन्दर को सुन्दरतर बनाने के इच्छुक विचारकों की धारणा है कि यदि उच्च कोटि के उस्तादी गानों-को नवयुग के अनुरूप सुरुचिपूर्ण शब्दों में गूँथने का यत्न किया जाय, तो कोई हानि न होगी। उलटे कुछ लाभ ही होगा।

जहाँ तक बँगलाभाषी परिवारों का प्रश्न है, कविवर रवीन्द्रनाथ ने यह कार्य काफ़ी सीमा तक कर दिया है।

हिन्दीभाषी परिवारों के इस सांस्कृतिक दैन्य को दूर करने के लिए हिन्दी में कोई एक रवीन्द्रनाथ तो हैं नहीं, यहाँ तो अनेक सुकवियों को मिलकर ही यह कार्य करना होगा।

पुराने उस्तादी गानों को उचित शब्दावलि न मिलने का कारण सम्भवतः गायकों का अनुचित अहंकार और कवियों-

का अनुचित स्वाभिमान रहा होगा। राग-रागिनियों के आविष्कारक उच्च कोटि के प्राचीन गायक अपने अहंकार के कारण उच्च कोटि के कवियों का उचित सम्मान करके उनसे अपने गानों के लिए शब्द माँगने को तैयार न होते होंगे और प्राचीन सुकविगण अपने स्वाभिमान के कारण उच्च-कोटि के गायकों को अयाचित रूप में अपने पद देने को उत्सुक न होते होंगे। सम्भवतः इन दो मनोभावनाओं के द्वन्द्व ने उच्च कोटि के भारतीय संगीत को शब्दों की दृष्टि से किसी हद तक असुन्दर बना दिया। अभिमानी गायकों ने अपने गानों के लिए या तो स्वयं ही शब्दरचना कर ली या अपने शिष्यों से करा ली। इससे स्वभावतः गानों के शब्दों का स्वरूप प्रायः अविकसित रह गया।

आधुनिक युग के सुकवियों को मनोभावों की ऐसी दासता से मुक्त होकर, लोककल्याण की भावना से, निस्संकोच एवं निरहंकार होकर, प्रसिद्ध तथा पुराने गायकों के पास जाना चाहिए। उनके प्रति उचित आदर प्रकट करके उनका विश्वास प्राप्त करना चाहिए और आग्रहपूर्वक उनके प्रिय गानों में प्रयुक्त पुराने शब्दों को बदलकर उनकी जगह, वर्णवृत्तप्रणाली का आश्रय लेकर, लघु की जगह लघु और गुरु की जगह गुरु अक्षर रखकर, आधुनिक हिंदीभाषा में नए गीतों की रचना करनी चाहिए, उन गायकों से उन्हें गवाकर उनपर उनकी सहमति और आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए और फिर स्वरलिपियों के साथ उन्हें प्रकाशित कराकर भारतीय संगीत को स्वर के साथ-साथ शब्द का वैभव भी देना चाहिए। इससे देश के सांस्कृतिक जीवन के एक शोचनीय दैन्य का निवारण होगा।

सहशिक्षा की समस्या

श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे प्रशासक तथा आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे शिक्षाशास्त्री वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा औद्योगिक उच्च शिक्षा पर बहुत ज़ोर देते हैं। भारत-सरकार ने तो वैज्ञानिक अन्वेषणों आदि सम्बन्धी एक मंत्रालय ही स्थापित कर देने की आवश्यकता समझी थी। इस प्रकार, एक ओर जहाँ इस देश में प्राथमिक शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अनिवार्य किए जाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर उच्च वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता भी अनुभव की जा रही है। देश के आर्थिक साधन इतने अल्प हैं और महिलाओं को प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान स्थान दिए जाने की माँग इतनी ज़ोरदार है कि सहशिक्षा इस देश की एक अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता बन गई है। उच्च वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा औद्योगिक शिक्षा इतनी अधिक व्ययसाध्य है कि उसकी छात्रों और छात्राओं के लिए अलग-अलग व्यवस्था किया जाना बिलकुल असम्भव है। शिक्षा, संस्कृति और नैतिकता-का अन्तर्राष्ट्रीय मापदंड भी कुछ ऐसा बन गया है कि छात्रों और छात्राओं के लिए अलग-अलग उच्च शिक्षा-संस्थाओं-की व्यवस्था करना इस युग में पिछड़े हुए राष्ट्र की निशानी समझा जाता है। इधर भारतवर्ष के अनेक राज्यों की आर्थिक, नैतिक तथा सामाजिक स्थिति आज भी इतनी

विषम है कि सहशिक्षा का प्रयोग अनिवार्य होते हुए भी काफ़ी बाधाओं का सामना कर रहा है। आए दिन समाचार-पत्रों में छात्रों तथा अन्य पुरुषों द्वारा छात्राओं के साथ की जाने वाली अशिष्टताओं के समाचार छपते रहते हैं। इसके लिए परिस्थितियों और वातावरण में क्रान्तिकारी तथा मूलभूत परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अन्यथा, महिलाओं की उच्च वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा औद्योगिक शिक्षा अत्यन्त कठिन हो जाएगी और बहुत बड़े नैतिक मूल्य देकर ही उसकी प्राप्ति सम्भव हो सकेगी। महिलाएँ इसे कदापि सहन न कर सकेंगी कि उन्हें उच्च वैज्ञानिक, टेकनीकल एवं टेकनोलोजिकल शिक्षा से वंचित रखा जाय और पुरुषों के समकक्ष सुविधाएँ न दी जायँ।

केवल शासन, क़ानून और दंडविधान ही से सहशिक्षा-की इस जटिल समस्या का समाधान न हो सकेगा। इसके लिए देश में एक ऐसा स्वस्थ तथा व्यापक आन्दोलन प्रारम्भ करना होगा, जो छात्राओं तथा पुरुषों के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न कर दे। संसार के प्रत्येक सभ्य देश-में महिलाएँ सेना में प्रवेश पाने में काफ़ी अंश तक सफलता प्राप्त करती हैं। प्रत्येक सैनिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, काफ़ी दृढ़ता और साहस की आवश्यकता होती है। छात्राओं को उच्च वैज्ञानिक तथा टेकनीकल सहशिक्षा-प्राप्ति-की दिशा में भी अधिक से अधिक संख्या में आगे बढ़ना चाहिए और सैनिकोचित दृढ़ता और साहस के साथ बढ़ना चाहिए। यदि स्त्री में उचित दृढ़ता, साहस और मनोबल हो, तो कोई भी पुरुष, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके साथ अशिष्ट व्यवहार करने की हिम्मत नहीं कर सकता।

महिलाओं ने भूतकाल में भी प्राण तक देकर अपने सम्मान की रक्षा की है और इस युग में भी समाचारपत्रों में अनेक बार यह पढ़ने को मिलता है कि अमुक महिला ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए अमुक पुरुष से संघर्ष करते हुए अपने प्राण दे दिए। उच्चतम शिक्षा तथा सहशिक्षा के अपने स्वाभाविक अधिकार की रक्षा के लिए भी महिलाओं को ऐसे ही उच्चतम बलिदानों की क्षमता प्रकट करने को तैयार रहना चाहिए। महिलाओं को अपनी सबसे बड़ी रक्षिका तो स्वयं ही बनना चाहिए। पुरुषों का भी, चाहे वे छात्र हों या अन्य नागरिक, यह पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे प्रत्येक छात्रा के साथ माँ, बहन और बेटी के समान, सद्व्यवहार करें और उसे असामाजिक तथा अशिष्ट तत्त्वों से बचाने में उदारतापूर्वक तथा निस्स्वार्थ भाव से अपनी सारी शक्ति लगा दें। पुरुषों के अशिष्ट व्यवहार के कारण यदि महिलाओं की सामान्य, उच्च वैज्ञानिक या टेकनीकल सहशिक्षा में बाधा पड़ी, तो संसार हमारे राष्ट्र को नैतिक दृष्टि से मृत राष्ट्र समझेगा। इस दिशा में ऐसे बुनियादी क़दम भी उठाए जाने चाहिए, जिनसे वह सामाजिक और आर्थिक विषमता भी मिटे, जो ऐसी दुर्घटनाओं के मूल में होती है।

प्रत्येक देश के सांस्कृतिक विकास के मूल्यांकन का एक प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय पैमाना यह भी माना जाता है कि उसकी स्त्रियों को किस सीमा तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष सुविधाएँ और समान अवसर प्राप्त हैं। इस दृष्टि से भारत का जिक्र आने पर प्रत्येक भारतवासी को लज्जा से सिर झुकाना पड़ता है। भारतीय महिलाओं को जिन सामा-

जिक विषमताओं के बन्धनों में जीवनयापन करना पड़ता है, वे वास्तव में अत्यन्त लज्जाजनक और शोचनीय हैं। इस विषमता को इस देश की जनता को शीघ्र ही समाप्त करना पड़ेगा और प्रत्येक क्षेत्र में करना पड़ेगा।

स्त्रियों और पुरुषों का समान सांस्कृतिक विकास ही इस देश की सांस्कृतिक उन्नति का प्रमुख चिह्न माना जायगा और शिक्षा का महत्त्व संस्कृति के क्षेत्र में प्रायः सर्वोपरि माना जाता है। अतः, यह इस देश की जनता का एक प्रमुख पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह इस देश की महिलाओं-के लिए उच्चतम सहशिक्षा का प्रबन्ध करे और वह शिक्षा न केवल साहित्यिक विषयों ही की हो बल्कि वैज्ञानिक एवं टेकनीकल विषयों की भी हो।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि महिलाओं-में पुरुषों से कुछ प्रकृतिगत भेद भी हैं और उनके कारण उनके कुछ ऐसे कर्त्तव्य भी हो जाते हैं, जो उनकी अपनी विभिन्नता से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु, अपने ऐसे विशिष्ट विभेद और उन विभेदों पर आधारित विभिन्न कर्त्तव्य तो पुरुषों के भी हैं। स्त्रियों और पुरुषों से यह आशा अवश्य की जा सकती है कि वे अपने-अपने विभेदगत विशिष्ट कर्त्तव्यों-का भी पालन करें, किन्तु, इसके लिए उनपर ज़बर्दस्ती नहीं की जा सकती, इन्हें तो उनकी अपनी कर्त्तव्यबुद्धि ही पर छोड़ा जा सकता है।

मानवता के उच्चतम सांस्कृतिक विकास के इस युग में किसी भी मानव को देशभेद, प्रांतभेद, धर्मभेद, सम्प्रदायभेद, जातिभेद या स्त्री-पुरुष-भेद के कारण किसी भी क्षेत्र की ...तम उपलब्धि से वंचित नहीं किया जा सकता। उन

उपलब्धियों के लिए, उक्त भेदों के आधार पर, अलग-अलग व्यवस्थाएँ भी नहीं की जा सकतीं।

इस नाते, यह भारतीय महिलाओं का न्याय्य अधिकार है कि वे जिन विषयों में चाहें, उनमें अपने लिए पुरुषों के साथ सहशिक्षा की व्यवस्था की माँग करें और यह जनता तथा शासन का कर्त्तव्य है कि वे उनकी इस न्यायोचित माँग की पूर्ति करें। इसके लिए अन्य बातों के साथ-साथ देश में अनुकूल नैतिक वातावरण उत्पन्न करने की भी अत्यन्त आवश्यकता है, जिसके लिए सांस्कृतिक क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं को विशेष प्रयास करना चाहिए।

कोश और व्याकरण का प्रश्न

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि ललित साहित्य-के उल्लेखनीय अंग हैं। उनका महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। विश्व का प्रसिद्ध नोबल-पुरस्कार अनेक बार साहित्य-के इन अंगों पर दिया गया है। पर, केवल इन्हींको लेकर कोई उन्नत भाषा अपनी समृद्धि-सम्बन्धी आकांक्षाओं की सम्यक् पूर्ति नहीं कर सकती। उसे अपने पूर्ण और वास्तविक विकास के लिए साहित्य के अन्य अंगों को भी अधिक से अधिक विकसित करना पड़ता है, ज्ञान-विज्ञान के सभी अंगों के विकास पर ज़ोर देना पड़ता है। भाषा की शक्ति इस बात में समझी जाती है कि वह विश्वजीवन के प्रत्येक विषय से सम्बद्ध प्रत्येक विचार और भावना की अभिव्यक्ति कर सके और उसे शुद्ध, सुन्दर और सुसंस्कृत रूप में कर सके। इसके लिए पर्याप्त शब्दसम्पत्ति और सुगठित तथा स्वस्थ वाक्यपरिपाटियों की आवश्यकता होती है। अच्छे कोश और अच्छे व्याकरण इसीके प्रतीक होते हैं।

हिन्दी का पुराना सीमित स्वरूप अब समाप्त हो गया है। अब उसके विद्वानों और साहित्यकारों को अपने को छोटे समझने की भावना का परित्याग कर देना चाहिए। अब उन्हें अपने नए, गम्भीर और विशद उत्तरदायित्व का अनुभव करना चाहिए। साथ ही उन्हें अहंकार से भी बचना

चाहिए। उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि समूचे राष्ट्र ने हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि को अब राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का गौरवपूर्ण स्थान दे दिया है। सर्वोपरि स्वामी जनता ने अपने प्रतिनिधियों के द्वारा इस विषय पर अपना निर्णय दे दिया है। मालिक की आज्ञा हो जाने पर भी बीच-के मुनीम-गुमाश्ते उच्च महत्त्व के प्रश्नों में कुछ अपनी घिस-घिस चलाया ही करते हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के अपने वर्तमान गौरव के अनुरूप व्यावहारिक सुविधाएँ पाने में इस समय जो कुछ बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं, उनका महत्त्व इससे अधिक नहीं है। धीरे-धीरे वे सब अपनी मौत मर जायँगी। हिन्दी को यदि भय है, तो उन लोगों के सम्भावित आलस्य, प्रमाद और कर्त्तव्यच्युति से है, जिनपर उसे समूचे राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य बनाने का नैतिक दायित्व है। यदि वे लोग अपनी निष्क्रियता-को नियंत्रित कर सके, तो फिर हिन्दी को किसी से किसी भय का कोई वास्तविक कारण नहीं है।

ज्ञान, विज्ञान, साहित्य आदि नदी के जल के समान हैं, मानव हृदय और मस्तिष्क उसके स्रोत के समान, भाषा नदी-के समान और व्याकरण और कोश उसके दोनों किनारों-के समान हैं।

किनारे देखने में रुकावट प्रतीत होते हैं, पर, नदी के जीवन में उनका वही स्थान है, जो मानव-जीवन में संयम और अनुशासन का। भाषा के जीवन में कोश और व्याकरण-का भी वही स्थान है। उनके अभाव में भाषा की समृद्धि, शक्ति और प्रवाह उचित उन्नति नहीं कर सकता, वह बिखर-कर और सूखकर नष्ट भले ही हो जाय।

यद्यपि वैज्ञानिक मौलिक चिन्तनाभिव्यक्ति की दृष्टि से अँग्रेज़ी भाषा जर्मन भाषा से उन्नत नहीं मानी जाती, ललित तथा कलापूर्ण साहित्यसर्जन में फ्रेंच भाषा से उसे आगे नहीं माना जा सकता और साहित्य के अनेक अंगों में रूसी भाषा उससे कहीं अधिक प्रगतिशील समझी जाती है, तथापि, यदि हम उसके साथ न्याय करने को तैयार हों और उसके द्वारा भारत पर किए गए पिछले सांस्कृतिक आक्रमण को भुला सकें, तो हमें मानना पड़ेगा कि अँग्रेज़ी भाषा ने अपने-को इस योग्य अवश्य बना लिया है कि केवल उसीका उचित ज्ञान प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति संसार के मन और हृदय-के समस्त संचय का साधारण परिचय प्राप्त कर सकता है, उसे इसके लिए किसी अन्य भाषा की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है।

लगभग छत्तीस करोड़ मानवों की राष्ट्रभाषा कहलाने के बाद अब हिन्दी के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह इस योग्य बने कि न केवल भारत का बल्कि विश्व का प्रत्येक व्यक्ति चाहने पर केवल उसीके माध्यम से संसार के भूत, वर्तमान तथा भावी चिन्तन, मनन, अनुभूति और अन्वेषण-के समस्त संचय से अपना तादात्म्य स्थापित कर सके।

इसके लिए हिन्दी को माध्यम बनानेवालों के चिन्तन, मनन, अध्ययन, अध्यवसाय आदि के साथ-साथ हिन्दी के पूर्ण, अद्यतन, विशाल और सर्वमान्य कोश और व्याकरण-की भी आधारभूत आवश्यकता है।

हिन्दी की यह एक बहुत बड़ी त्रुटि मानी जा सकती है कि उसमें उचित अनुपात से बड़ी मात्रा में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक तथा अन्य ललित साहित्य का निर्माण हो

रहा है। साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय मापदंडों के अनुकूल उच्चता भी यदि इस निर्माण में उतनी ही अधिक होती, तब भी कोई बात थी। वह भी उतनी नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर परिमाण के दृष्टिकोण ही से ललित साहित्य-का निर्माण हो रहा है। वैज्ञानिक तथा उच्च अन्वेषणयुक्त गम्भीर साहित्य की तुलना में ललित साहित्य का अनुपात इतना अधिक बढ़ रहा है कि गम्भीर साहित्य उपेक्षित स्थिति-में पड़ गया है।

इस ख़तरनाक स्थिति की ओर अत्यन्त प्रबल इंगित किए जाने चाहिए और वैज्ञानिक तथा गम्भीर साहित्यिक ग्रन्थों-का निर्माण उच्च स्तर पर तथा पर्याप्त परिमाण में किया जाना चाहिए।

संस्कृति के क्षेत्र में केवल ललित साहित्य ही का समावेश नहीं होता, उसकी सर्वाङ्गीण समृद्धि के लिए उच्च वैज्ञानिक, टेकनीकल तथा गम्भीर साहित्यिक ग्रन्थों का भी उचित मात्रा-में तैयार होना आवश्यक है।

उच्च कोटि के गम्भीर ग्रन्थों का निर्माण विशाल और उच्च कोटि के शब्दकोश, विश्वकोश, पारिभाषिक शब्दकोश, व्याकरण आदि के गहरे और सुदृढ़ मूलाधारों के बिना असम्भव है।

सर्वमान्य तथा सर्वोच्च कोटि के बड़े कोश तथा बड़े व्याकरण का निर्माण अनिवार्य होते हुए भी अत्यन्त व्ययसाध्य है।

सांस्कृतिक क्षेत्रों के समस्त नेताओं, साहित्यकारों, वैज्ञा-निकों, विद्वानों, पत्रकारों आदि का यह कर्त्तव्य है कि वे

जनता को प्रबल प्रेरणा दें कि वह शासन पर जोर डाले कि वह हिन्दी भाषा के उचित स्तर के कोश तथा व्याकरण के निर्माण के लिए सार्वजनिक कोष से पर्याप्त धन दे और हिन्दी के ऐसे वास्तविक अधिकारी तथा निष्पक्ष विद्वानों के सिपुर्द यह काम करे, जिनके ज्ञान का स्तर अन्तर्राष्ट्रीय उच्च पैमानों के अनुरूप हो।

यदि उचित मात्रा में धन-व्यय की व्यवस्था की जाय और योग्य व्यक्तियों के सिपुर्द यह कार्य किया जाय, तो यह अत्यन्त कठिन कार्य भी अत्यन्त योग्यता के साथ थोड़े समय ही में सम्पन्न हो सकता है।

सामयिक पत्रों का प्रश्न

लोकतंत्र की दृष्टि से इस देश के प्रत्येक बालिग़ निवासी-को मताधिकार दिया जाना एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना मानी गई है।

उससे भी अधिक महत्त्व का कार्य भविष्य के गर्भ में बताया जाता है और वह है भारत के प्रत्येक बालिग़ निवासी-का साक्षर होना। सांस्कृतिक विकास का मूलाधार समझा जा सकनेवाला राष्ट्रनिर्माण का यह महत्त्वपूर्ण कार्य बहुत बड़े पैमाने पर किए जाने पर ही यथेष्ट रूप में सफल हो सकता है और इसमें शासन और जनता, दोनों के ज़बर्दस्त सहयोग की आवश्यकता है।

किन्तु, यह कार्य तो तीसरे महान् कार्य की पृष्ठभूमिमात्र होगा। तीसरा महान् कार्य होगा प्रत्येक मतदाता के ज्ञान-का स्तर इतना ऊँचा उठाया जाना कि वह इतना सुसंस्कृत हो जाय कि मतदान-द्वारा शासन-निर्माण के उत्तरदायित्व-का निर्वाह उचित विवेक तथा सुरुचि के साथ कर सके।

इस युग में साक्षर जनता के ज्ञान के स्तर को ऊँचा उठाकर उसे सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित बनाने के सबसे बड़े साधन सामयिक पत्र ही हो सकते हैं। प्राचीन काल में जनता की सांस्कृतिक उन्नति में जो योगदान चिरभ्रमणशील परिव्राजक, संत और साधक दिया करते थे, वही योगदान इस युग में सामयिक पत्र दे सकते हैं।

खेद है कि सामयिक पत्रों की उन्नति तथा उन्हें सांस्कृतिक विकास की ओर उन्मुख करने के प्रयत्नों की ओर इस देश के महापुरुषों, नेताओं और शासनसूत्रधारों का यथोचित ध्यान नहीं है। स्वयं पत्र भी अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर काफ़ी सचेष्ट नहीं हैं।

हिन्दी के अधिकांश सामयिक पत्रों की दशा तो और भी असन्तोषजनक है। वे उस राष्ट्रीय आकांक्षा की यथोचित पूर्ति नहीं करते, जो राष्ट्रभाषा के पत्रों के रूप में देश उनसे रख सकता है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का जो दायित्व और अधिकार है, उसे यदि प्रारम्भ में छोड़ भी दिया जाय, तो भी, एक महत्त्वपूर्ण और महान् भूभाग के निवासियों की मातृभाषा के रूप में भी उसका जो स्थान होना चाहिए, उसके साथ उसके अधिकांश सामयिक पत्रों के स्तर की फ़िलहाल प्रायः सुसंगति नहीं बैठती।

समाचारपत्र पढ़ सकनेवाले हिन्दीभाषी स्त्री-पुरुषों की संख्या कम होते हुए भी, उतनी तो आज भी है ही, जितनी पश्चिम के किसी छोटे-मोटे देश की कुल जनसंख्या हो सकती है। फिर भी, पश्चिम के ऐसे किसी भी छोटे-मोटे देश के किसी भी पत्र की ग्राहकसंख्या हिन्दी के बड़े-से-बड़े पत्र की ग्राहकसंख्या से कई गुनी अधिक है। यह अधिकता आर्थिक जीवनमानों के उस अन्तर से भी कई गुनी अधिक है, जो भारत तथा पश्चिमी देशों के निवासियों के जीवनमानों में है।

तो फिर, हमारे पत्रों की आनुपातिक ग्राहकसंख्या की कमी का वास्तविक कारण क्या है? हमारी नम्र सम्मति में असली कारण न तो पाठकसंख्या-सम्बन्धी है और न आर्थिक स्थिति-सम्बन्धी। असली कारण तो यह है कि यहाँ के

सामयिक पत्र अपने पढ़ सकनेवालों की आवश्यकता का ख़याल कम रखते हैं। पाठकों की आवश्यकताओं का वैज्ञानिक दृष्टि से कभी वास्तविकतासंगत एवं विश्लेषणात्मक अनुशीलन ही नहीं किया जाता। हमारे अधिकांश सामयिक पत्रों के कलेवरों में जो कुछ समाविष्ट होता रहता है, उसका उनके पाठकों के जीवन और उनकी आवश्यकताओं से उचित सामंजस्य नहीं होता है। पाठक को अपनी इच्छा, आकांक्षा, आवश्यकता, आदर्श और अभिरुचि का चित्र उस पत्र में नज़र नहीं आता, जिसे उसे ख़रीद कर पढ़ना चाहिए। फलतः, वह उसे अन्न-वस्त्र की भाँति अपनी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु नहीं बना पाता। हमारे अधिकांश पत्रों-के लक्ष्य का केन्द्रविन्दु पाठकों का हित या अभिरुचि न होकर प्रायः उनके संचालकों का हित या अभिरुचि होती है। संचालक अपने आराध्यदेवों की आराधना अपने पत्रों से भी कराना चाहते हैं और उनके आराध्यदेव प्रायः शासन-सत्ता या सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। प्रायः इसीलिए पत्रों की ग्राहकसंख्या बौनों के चरणों की गति ही से बढ़ती है। बहुत-से सामयिक पत्र अपने उक्त आराध्यदेवों को संतुष्ट करने के लिए राजनीति और शासनसम्बन्धी समाचारों और विचारों-को अपने कलेवर का ६० प्रतिशत से भी अधिक भाग अर्पित करते रहते हैं। राजनीति और शासन की ओर यदि सामयिक पत्रों के सामान्य पाठकों की रुचि भी इतनी ही अधिक हो, तब तो पत्रों की ग्राहकसंख्या बड़ी तेजी से बढ़े, पर, वस्तुस्थिति इससे काफ़ी भिन्न है। राजनीति का स्थान सामान्य हिन्दीभाषी पाठक के जीवन में काफ़ी सीमित है। किंबहुना, वह उसकी अनाकर्षक एकरूपता से किसी हद तक

ऊब-सा गया है। उसकी दिन-प्रतिदिन की दिलचस्पी का बहुत बड़ा हिस्सा अन्य विषयों को भी प्राप्त है। वह सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, मनोरंजक, खेलकूदविषयक, गार्हस्थ्य और कला-सम्बन्धी विषयों में भी काफ़ी दिलचस्पी रखता है। यदि इन विषयों के विशेषज्ञों से विशेष प्रबंध करके सामयिक पत्रों में इन विषयों-की विशेष सामग्री प्रचुर परिमाण में प्रकाशित करने की पर्याप्त व्यवस्था की जा सके, तो पत्रों की ग्राहकसंख्या काफ़ी बढ़ सकती है। पर, इसके लिए पत्र-संचालकों में मौलिक सूझ-बूझ और साहस की आवश्यकता है, पिटीपिटाई लीक पर चलते जाने की रूढ़िवादी मनोवृत्ति की नहीं। जीवन में स्वस्थ मनोरंजन, व्यंग्य और हास्य का कितना उच्च और कितना अधिक स्थान है, यह भी किसी से छिपा नहीं है। सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक विषयों पर प्रतिभाशाली विचारकों-के विचारों के प्रकाशन की आवश्यकता भी निर्विवाद है। किन्तु, हिन्दी में कितने पत्र ऐसे हैं, जो इन विषयों को उचित महत्त्व देते हैं और इनके लिए अपने कलेवर में उचित प्रबंध करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं? सामान्य पाठकों-की सांस्कृतिक विषयों की वास्तविक आवश्यकताओं की बहुधा उपेक्षा तथा निरन्तर केवल राजनीति ही के कोल्हू में जुते रहने की वृषभवृत्ति हिन्दी के बहुत से पत्रों को आजकल क्रमिक आत्मघात की ओर ले जा रही है।

राजनीतिज्ञों, शासकों तथा राजनीतिक दलों को संतुष्ट करने में सामयिक पत्रों को पाठकेतर मार्ग से कुछ तात्कालिक लाभ भले ही फ़िलहाल कुछ समय तक मिलता रहे, किन्तु, ग्राहकसंख्या की कमी के कारण, अगले युगप्रवाहों में, अंततोगत्वा, उन्हें विनष्ट होना ही पड़ेगा।

हिन्दी के अधिकांश सामयिक पत्रों की इस संकुचित मनोवृत्ति के कारण उनका तथा उनके द्वारा जनता के सांस्कृतिक विकास का मार्ग आजकल प्रायः अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी के बहुत-से बड़े पत्र आज बड़े पूँजीपतियों के संचालकत्व में चल रहे हैं। उनके संचालकों का स्वभावतः साहित्य, संस्कृति तथा सामाजिक विकास से सम्बन्ध नहीं है। उनका मुख्य उद्देश्य अपने उद्योगों और व्यापारों का आर्थिक विकास करना है, जो शासन पर प्रभाव रखे बिना सम्भव नहीं है। लोकतंत्र में सामयिक पत्र शासन पर प्रभाव डालने के सबसे बड़े साधन समझे जाते हैं और शासन पर प्रभाव डालने के लिए जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का ख़याल छोड़कर शासनसंचालकों की राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। इस देश के आज के शासनसंचालकों में अधिकांश ऐसे हैं, जो प्रायः राजनीतिज्ञ हैं और साहित्य, संस्कृति, कला आदि से जिनका सम्बन्ध नहीं है। अतः, स्वभावतः, आज के हमारे सामयिक पत्र इसी एकांगी साँचे में ढल रहे हैं।

वर्तमान स्थिति में इस साँचे या ढाँचे को तोड़ सकना तो सम्भव नहीं, किन्तु, इसका एक स्वस्थ और नवीन विकल्प अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। उसका प्रयोग करके देखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

वलिदानों की राजनीति का दौर अब इस देश में समाप्तप्राय हो चुका है। जनता अब इस दृश्य के देखने की आदी हो चली है कि बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ भी चार वर्ष कुछ जनसेवा का प्रदर्शन करने के बाद पाँचवे वर्ष जनता-

से मत के रूप में उसका प्रतिदान माँगने को खड़े हो जाते हैं। निर्वाचनों की यह नियमित मत-याचना लोकतंत्र में स्वाभाविक तो है, किन्तु, इसके कारण जनता में राजनीतिज्ञों के प्रति अब वह श्रद्धा नहीं रह सकती, जो स्वातंत्र्य-पूर्व काल के निस्स्पृह बलिदानों के पुराने युग में रहती थी।

आज का राजनीतिज्ञ जनता की भावना का पुण्यप्रेरक नहीं रह गया है। वह भूखंडों पर शासन करता है, हृदयों पर नहीं। फलतः, यह स्वाभाविक ही है कि जनता की श्रद्धा अब अन्य विकल्प प्राप्त करने का यत्न करे।

रचनात्मक कार्यकर्ता, सांस्कृतिक क्षेत्र के नेता, साहित्यकार, कलाकार, समाजसेवी, पत्रकार आदि वह विकल्प बन सकते हैं।

ऐसे उच्चादर्शयुक्त लोगों को एकत्र होकर सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर प्रत्येक ज़िले में एक-एक ऐसी सहकारी संस्था का निर्माण बड़े पैमाने पर करना चाहिए, जो प्रत्येक ज़िले में एक-एक बड़े दैनिक पत्र का प्रकाशन कर सके। यह दैनिक पत्र शासन तथा राजनीति से सम्बद्ध ऐसे विषयों का प्रकाशन अतिमात्रा में न करे, जिनमें केवल मुट्ठीभर राजनीतिज्ञों या शासकों की दिलचस्पी हो, जनता की नहीं। जनता की रुचि के सांस्कृतिक तथा अन्य विषयों को इसमें उचित स्थान दिया जाय और जनता के सांस्कृतिक विकास को अपना मुख्य लक्ष्य-विन्दु बनाया जाय। देश, विदेश और राज्य के समाचारों को यथासम्भव संक्षेप में उचित स्थान अवश्य दिया जाय, किन्तु, ज़िले के समाचारों का प्रकाशन अधिकतम विस्तार के साथ किया जाय। जनता की सत्प्रवृत्ति तथा सुरुचि को यह पत्र ज़ोरों से प्रोत्साहित करे। उसकी

वास्तविक आवश्यकताओं पर अधिक से अधिक ध्यान दे। इस प्रकार यह बड़ा दैनिक पत्र शीघ्र ही अपने ज़िले की जनता के हृदय और उसके प्रत्येक घर में स्थान पा सकता है। प्रत्येक हिन्दीभाषी ज़िले से एक-एक दैनिक पत्र के प्रकाशन से हिन्दी के दैनिकपत्रों की संख्या संसार की अन्य उन्नत भाषाओं के दैनिकपत्रों के काफ़ी निकट आ जायगी, क्योंकि समस्त हिन्दीभाषी राज्यों के समस्त ज़िलों की सम्मिलित संख्या बहुत बड़ी है। उनकी ग्राहकसंख्या भी इतनी अधिक हो जायगी कि वे सुरुचिपूर्ण तथा उपयोगी विचारों के प्रकाशन में भी काफ़ी आगे बढ़ जायँगे। शासकों तथा पूँजीपतियों के आश्रित न होने के कारण वे जनता के निष्पक्ष न्यायालयों का स्थान भी ग्रहण कर सकेंगे।

इस प्रकार, निष्पक्ष तथा सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत सुयोग्य श्रमजीवी पत्रकारों के नेतृत्व में तथा सांस्कृतिक तथा रचनात्मक कार्यों के क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं की सहायता से, सहकारिता के सुदृढ़ तथा विस्तृत आधार पर, चलनेवाले नए सामयिक पत्र भूतकाल के परिव्राजकों की भाँति ही जनता की सांस्कृतिक उन्नति में इस युग में उचित योगदान कर सकेंगे।

शुद्धिपत्र

पृष्ठसंख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२	मुझ	मुझे
२३	८	कॉलेजों को	कॉलेजों के
२८	८	अन्तर	अन्तर्
३१	७	अवतरित कर	अवतरित करें
३२	२	उच्चकोटि का	उच्चकोटि की
३८	२१	अप	अपना
४४	४	कला-कला	कला कला
५५	३	आचाय	आचार्य
५६	२७	निस्सन्दे ह्इतनी	निस्सन्देह इतनी
७५	२	पूव	पूर्व
८५	२०	वँगाल	वंगाल
८८	१२	त्रिद्रपमय	विद्रूपमय
१२५	४	उपर्युक्त	उपयुक्त
१३३	१५	राष्ट्र की	राष्ट्र को
१४३		आचाय	आचार्य
जीवन पर दृष्टि (१)	११	बँगला	बँगला, मराठी
अभिमत (३)	१६	यग	युग

श्री मिलिन्द के जीवन पर एक दृष्टि

जन्मस्थान–श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का जन्म मुरार (ग्वालियर, मध्यभारत) में हुआ।

जन्मतिथि–कार्तिकपूर्णिमा संवत् १९६४ वि० (ता० १९।११। १९०७ ई०)

वर्तमान वासस्थान तथा पता–लश्कर (ग्वालियर, मध्यभारत)।

शिक्षा–मुरार हाई स्कूल में प्रारम्भिक, तिलक राष्ट्रीय विद्यालय, अकोला (मध्यप्रदेश) में मैट्रिक तक, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना से मैट्रिक्युलेशन परीक्षा, उसके बाद साहित्य और समाजविज्ञान की उच्च शिक्षा काशी-विद्यापीठ, बनारस के राष्ट्रीय कालेज में। हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू, बँगला और गुजराती भाषा का भी ज्ञान है।

पुस्तकें–आपकी रचनाओं में 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'समर्पण' तथा 'गौतम नन्द' नामक तीन नाटक, 'जीवनसंगीत', 'नवयुग के गान', 'बलि-पथ-के गीत', 'भूमि की अनुभूति' तथा 'मुक्तिका' नामक पाँच कवितासंग्रह और 'चिन्तनकरण' तथा 'सांस्कृतिक प्रश्न' नामक दो निबंध-संग्रह और 'बिल्लो का नकछेदन' नामक एक व्यंग्यविनोद कथासंग्रह, इस प्रकार ग्यारह ग्रंथ, प्रकाशित हो चुके हैं।

मध्यभारत के शासन के शिक्षाविभाग द्वारा नियुक्त साहित्य-मनीषियों की समिति ने आपकी पुस्तक 'बलिपथ के गीत' को १००० रुपयों के प्रथम पुरस्कार के योग्य ठहराया। उत्तरप्रदेश के शासन के शिक्षा-विभाग ने भी, विद्वानों की समिति के निर्णयानुसार, आपके 'बलिपथ के गीत' और 'समर्पण' पर ८०० रुपयों का पुरस्कार दिया, जो मध्यभारत के साहित्यकारों को वहाँ से प्राप्त पुरस्कारों में सबसे बड़ा था। आपके 'भूमि की अनुभूति' तथा 'गौतम नन्द' नामक ग्रंथों पर भी मध्यभारत-शासन के शिक्षा-विभाग की कलापरिषद् ने, विद्वानों के परामर्श पर, ७०० रुपयों का प्रथम पुरस्कार दिया है।

कार्य—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (बंगाल) तथा महिला-आश्रम, वर्धा (मध्यप्रदेश) में अध्यापक तथा प्रयाग और अजमेर में साहित्यसेवी तथा राष्ट्रकर्मी के रूप में रहे। पंजाब की मासिक-पत्रिका 'भारती' तथा ग्वालियर के अर्ध-साप्ताहिक पत्र 'जीवन' के सम्पादक रहे। ग्वालियर स्टेट कांग्रेस के प्रधान-मन्त्री तथा मध्यभारत प्रांतीय कांग्रेस-की कार्यसमिति के सदस्य रहे। सन् १९४२ के आन्दोलन में तथा बाद में भी जेलों में रहे। कांग्रेस द्वारा शासन ग्रहण किये जाने पर मिनिस्टर पद स्वीकार करने का अनुरोध किये जाने पर, उसे अस्वीकार कर चुके हैं। मध्यभारत समाजवादी पार्टी के, सर्व-सम्मति से, दो बार लगातार प्रांतीय प्रमुख तथा प्रांतीय पार्लमेण्टरी कमेटी के अध्यक्ष चुने गए थे। बृहत्तर ग्वालियर साहित्यकार संघ, पत्रकार-संघ, नव संस्कृति संघ आदि संस्थाओं के अध्यक्ष रह चुके हैं। शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित साहित्य तथा कलाओं की संस्था 'मध्यभारत-कला-परिषद्' के सर्वसम्मति से उपाध्यक्ष चुने गए हैं।

पिछले दिनों अस्वास्थ्य, राजनीति, सार्वजनिक कार्यों तथा अन्य अधिक व्यस्तताओं के कारण साहित्यनिर्माण में पर्याप्त समय न लगा सके। अब कुछ वर्षों से पुनः साहित्यक्षेत्र ही में अधिकतर कार्य करने लगे हैं। आजकल अपना अधिकांश समय मुख्यतः स्वाध्याय, ग्रंथलेखन तथा स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष पत्रकार के कार्य में लगा रहे हैं। देश के अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं के दैनिक पत्रों के प्रतिनिधि हैं। ग्वालियर से प्रकाशित मासिक-पत्रिका 'भारती' के प्रधानसम्पादक का काम भी कर रहे हैं। अनेक ग्रंथों के निर्माण का कार्य-क्रम उनके सामने है। आजकल नियमित रूप से साहित्यरचना ही कर रहे हैं। उनकी अनेक नई पुस्तकें निकट भविष्य में प्रकाशित होनेवाली हैं।

—:०:—

श्री ज० प्र० मिलिन्द की साहित्य-साधना पर कुछ आलोचकों के अभिमत

श्री मिलिन्द जी की वेदना और भावना केवल मन को छूती ही नहीं, उसमें एक आलोड़न भी पैदा करती है। उनमें आज और कल-का वह स्वर, वह चिन्तन भी है, जिसमें एक श्रेष्ठ, सुखी और समृद्ध मानव-समाज की आशा है। एक संदेश, साधना की एक छाप और मानवीय वेदना की एक कसक है

—नया समाज, अप्रैल १९५२

देश-प्रेम से आरम्भ होकर मिलिन्द जी की साधना मानव के प्रेम तक पहुँची है। वह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं। उनकी रचनाओं में सरलता है, प्रवाह है, ओज है। उनकी अनुभूति वहुत तीव्र है। इसी कारण उनकी रचनाएँ सच्ची और प्रभावशाली हैं। उनका स्थान साहित्य ही में नहीं, वरन्, इतिहास में भी निश्चित है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

—विशाल भारत, मई ४६

मिलिन्द जी की अनुभूति जीवन की अनुभूति है। उनमें बर्नार्ड शा-की भाँति सफल सुन्दर व्यंग्य भी है। उनकी कृतियों में युग का अनोखा चित्रण है, जादूभरा-सा। उनके साहित्य में मूक शोषित मानवता-संगठित असंतोष की वाणी और श्रृंखलाखंडन की वास्तविक प्रेरणा मिलती है। वह शोषितों और दलितों के प्रहरी प्रतिनिधि कलाकार हैं। मानवता के इस नन्दा-दीप में हिन्दी को साने गुरु जी मिला।

—जनवाणी, जुलाई, सितम्बर ५१

मिलिन्द जी की रचनाओं ने उन्हें पिछले कलाकारों से आगे प्रस्तुत किया है और स्पष्ट किया है कि वह आज भी तरुण हैं। वह आज-के युग के साथ भी चल सकते हैं, अपनी उसी प्रतिभा और अमंद गति-से। वह प्रगतिशील होने के साथ-साथ कलात्मक भी हैं, विचारप्रवण होने के साथ-साथ रससिक्त भी। यही उनकी औरों से विभिन्नता है। वह हिन्दी के सफल नाटककार हैं। और उदात्त विचार के कुशल कवि भी। जनजीवन से उनका सीधा सम्पर्क है और अपने देश के सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए उनकी आत्मा तड़पती है।

—नई धारा, सितम्बर ५१, अप्रैल ५२

मिलिन्दजी की कृतियाँ देश को नई दिशा की ओर मोड़ सकने का तेज रखती हैं। आपने साहित्य को जो कुछ दिया है, वह प्राण और वास्तविक अनुभूत सत्य से पूरित है। उनकी सभी कृतियाँ अनुपम सौंदर्य और प्रगतिशील जीवन-प्रदर्शन से पूर्ण हैं। हिन्दी में ऐसी गहन वेदना का स्वर इने-गिने साहित्यकारों की कृतियों ही में मिलता है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी और जनता इस साहित्यकार की महत्ता को कभी भुला नहीं सकेंगे।

—नवयुग, मई ५१

श्री मिलिन्द की गणना निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उन प्रतिनिधियों में की जा सकती है, जिन्होंने नए युग की नई चेतना को प्रभावित किया है और जिनकी कृतियाँ देश को नई दिशा की ओर मोड़ने-में सफल हुई हैं। उन्होंने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा और विचारप्रवणता-से युग का साथ दिया है। उनकी साधना की प्रखर ज्योति ने सर्वांगीण जगजीवन को आलोकित किया है। उनकी अनुभूति मानवता की सच्ची अनुभूति है। उनकी वाणी युगदेवता की वाणी और उनके स्वरों में युगदेवता के स्वरों की झंकार है।

—जनसत्ता, दिल्ली, ३१ दिसम्बर ५२

... No. G-4601
DATE ... 8-8-02

Library IIAS, Shimla
HNH 814.8 M 599 S
G4601